

ब्रह्मपथ परमगति है, देवपथ उत्तमगति है। पितृपथ सद्गति है और यमपथ दुर्गति है। गति के सभी प्रकार इन चार भागों में गमाविष्ट हो जाते हैं।

### शुक्लमार्ग

शुक्लमार्ग का वर्णन छान्दोग्य में इस प्रकार किया गया है कि पहले वह अर्चि, अर्थात् प्रकाश में जाता है। उसके अनन्तर अहः, अर्थात् दिन-भाग में और दिन-भाग से शुक्लपक्ष के भाग में, फिर उत्तरायण के छह मासों में, उनके अनन्तर संवत्सराग्नि में, संवत्सराग्नि से सूर्य-मण्डल में, सूर्य-मण्डल से चन्द्रमा में और चन्द्रमा से विद्युत् में जाता है।

सूर्य-मण्डल से जो अग्नि पृथ्वी पर निरन्तर आता रहता है, उसी को वैश्वानर और संवत्सराग्नि शब्दों से कहा गया है। एक वर्ष में जितनी मात्रा सौर अग्नि की आयी वह एक संवत्सराग्नि हुआ। हमारे शरीर में जो वैश्वानराग्नि काम करती है, वह उसी सौर-अग्नि का एक अंश है। यज्ञ के द्वारा यज्ञमान के शरीर में स्थित वैश्वानराग्नि को संस्कृत कर सूर्य-मण्डल की पृथ्वी में व्याप्त संवत्सराग्नि के साथ मिला देना ही यज्ञ का उद्देश्य होता है, जिससे कि वह उस अग्नि के उद्भव-स्थान सूर्य-मण्डल अथवा स्वर्ग-लोक में जा सके।

यज्ञ चार प्रकार का होता है—एकाह, अहीन, रात्रि-सत्र और अयन-सत्र। एकाह वह है, जो यज्ञ एक ही अहोरात्र में पूर्ण हो जाता है। दस अहोरात्रों में पूर्ण होने वाले यज्ञ को अहीन कहा जाता है; दशाह भी उसका एक नाम है। शत अहोरात्रों में पूर्ण होने वाले यज्ञ को रात्रि-सत्र की संज्ञा दी जाती है तथा एक सहस्र अहोरात्र में पूर्णता को प्राप्त करने वाला सत्र अयन-सत्र नाम से सम्बोधित है। इन सारे यज्ञों का तात्पर्य संवत्सर के छोटे और बड़े भागों के संस्कार या उनकी शुद्धि है। इन यज्ञों से किसी-न-किसी प्रकार संवत्सर का ही संस्कार होता है। ये चारों सोमयाग कहलाते हैं, किन्तु इसकी पात्रता प्राप्त करने के लिये सोमयाग के पूर्व जो अपेक्षाकृत छोटे यज्ञ किये जाते हैं उनको १. अग्निहोत्र, २. दर्शपूर्णमास, ३. चातुर्मास्य और ४. पशुबन्ध कहते हैं। इनमें अग्निहोत्र नाम के यज्ञ से संवत्सर के अहोरात्र-विभाग का संस्कार होता है, दर्शपूर्णमास से पक्ष या मासों का संस्कार सम्पन्न होता है, चातुर्मास्य से ऋतु-विभाग का तथा पशुबन्ध से अयन का संस्कार होता है। तदनन्तर सोम-यागानुष्ठान से पूर्ण संवत्सर का संस्कार होता है।

यह ध्यातव्य है कि यहाँ सूर्य-मण्डल से ऊपर जो चन्द्रमा बताया है, वह परमेष्ठी-मण्डल है। सोमप्रधान होने के कारण उसे भी चन्द्रमा कहा जाता है।

### कृष्णमार्ग

कृष्णमार्ग या धूममार्ग का क्रम इस प्रकार है कि धूम से रात्रि में, रात्रि से कृष्णपक्ष में तथा कृष्णपक्ष से दक्षिणायन के मासों में गति होती है। दक्षिणायन के मासों से पितृलोक में, पितृलोकों से चन्द्र-मण्डल के समीपवर्ती लोकों में चल जाते हैं। वहाँ से आकाश में होकर चन्द्र-मण्डल में पहुँच जाते हैं, चन्द्रमण्डल में पहुँचकर वहाँ से सोम के साथ मिल जाते हैं और अपने पुण्य के अनुसार वहाँ भोग भोगकर फिर पृथ्वी पर लौट आते हैं।

विद्या की प्रधानता से सूर्याभिमुख गति होती है और विद्या को अविद्या द्वारा दबा दिये जाने पर चन्द्राभिमुखगति। विद्या अर्चिमार्ग की और तथा अविद्या धूममार्ग की ओर ले जाती है। ज्ञान को उत्पन्न करने वाले अथवा ज्ञान के सहकारी कर्मों को पुण्य कहते हैं और आत्मविरोधी धर्मों को उत्पन्न करने वाले अथवा ज्ञान का नाश करने वाले कर्मों को पाप कहते हैं। पुण्य शुक्ल और पाप कृष्ण है।

कोई संस्कार यदि देव-प्राणों को सङ्ग्रह करने वाला है, तो उस कर्म को पुण्य-कर्म कहेंगे, किन्तु यदि संस्कार आसुर प्राणों का सङ्ग्राहक तो उस कर्म को पाप कहते हैं। पुण्य के बल से आत्मा हल्का होता है और वह देव की ओर जाना चाहता है।

### कर्म के तीन प्रकार

कर्म के विद्या-सापेक्ष, विद्या-निरपेक्ष तथा प्रवृत्त एवं निवृत्त भेद हमने किये हैं। कर्म का भेद करने का एक अन्य भी प्रकार यह है कर्म तीन प्रकार के हैं—कर्म, विकर्म और अकर्म। हम सभी कुछ न कुछ कर्म करते हैं तथा वे कर्म ज्ञानपूर्वक होते हैं। इसमें ज्ञान ब्रह्मभाग है, कर्म बलभाग है। ये दोनों ही हम सबमें मिलते हैं क्योंकि हम सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी के समन्वित रूप हैं। सूर्य में ब्रह्म मात्रा अधिक है। चन्द्रमा में कर्म मात्रा अधिक है तथा पृथ्वी में केवल कर्म मात्रा ही है। सूर्य से ज्ञान जुड़ा है, चन्द्रमा से क्रिया और पार्थिव संस्था से अर्थ शक्ति, किन्तु तीनों में ही कर्म है। सर्वप्रथम पार्थिव कर्मों को लें। पृथ्वी में अर्थप्रधानकर्म मुख्य हैं। ये कर्म अर्थ और काम को देने वाले हैं। इनका सम्बन्ध तमोगुण से है। ये स्वार्थपरक कर्म हैं। दूसरे कर्म, जो चन्द्रमा से जुड़े हैं, वे तीन प्रकार के हैं—इष्ट, आपूर्त और दत्त। इन तीनों प्रकार के कर्मों में त्रयी ज्ञान की अपेक्षा नहीं है, इसलिये ये कर्म सत्कर्म तो हैं, किन्तु विद्या-निरपेक्ष हैं।

तीसरे कर्म दिव्य कर्म हैं, जिनमें त्रयी ज्ञान की अपेक्षा रहती है। ये कर्म भी तीन हैं—यज्ञ, तप और दान। इन तीनों कर्मों में विद्या की अपेक्षा है इसलिये ये विद्यासापेक्षकर्म हैं। पार्थिव कर्मों में अर्थ मुख्य है, ज्ञान तथा क्रिया गौण है। पितृकर्मों में क्रिया मुख्य है, अर्थ और ज्ञान गौण हैं। दिव्य कर्मों में ज्ञान मुख्य है, क्रिया और अर्थ गौण हैं। दिव्य कर्म परम पुरुषार्थ है। यह देवप्राण द्वारा सम्पन्न होता है। चान्द्रकर्म विद्यानिरपेक्षकर्म हैं। ये परार्थ हैं। यह पितृप्राण से सम्पन्न होता है और अविद्यायुक्त पार्थिव कर्म स्वार्थ हैं। वे वैश्वानरप्राण से सम्पन्न होते हैं। विद्या सहित निवृत्तिकर्म अमृतरूप है, बन्धन से रहित है। विद्यासहित प्रवृत्तिकर्म बन्धन सहित हैं। वे मर्त्य हैं। विद्यानिरपेक्ष निवृत्तिकर्म अमृत रूप है, बन्धन से रहित है। विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्तिकर्म बन्धन सहित है। वे मर्त्य हैं। लौकिक सत्कर्म बन्धन रहित हैं। वे अमृत रूप हैं। ये पाँचों कर्म कहलाते हैं। लौकिक निरर्थककर्म बन्धन सहित मर्त्यकर्म हैं, वे अकर्म कहलाते हैं। लौकिक विरुद्ध कर्म दृढ़ बन्धन वाले हैं तथा लौकिक स्वार्थ पूर्ण कर्म निविड़ बन्धन वाले हैं। निरर्थक लौकिक कर्म अकर्म हैं तथा लोकविरुद्ध और स्वार्थकर्म विकर्म हैं।

## नाड़ी

छान्दोग्योपनिषद् कहता है कि हृदय में १०१ नाड़ियाँ हैं जिनमें से एक मूर्धा की ओर गई है। जिसके प्राण उम मूर्धा की ओर जाने वाली नाड़ी से ऊपर की ओर जाते हैं वह अमृतत्व को प्राप्त करता है और जिसके प्राण शेष नाड़ियों से निकलते हैं वह शरीर छोड़ने के वाद चारों ओर गति करता है—

शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।  
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उक्रमणे भवन्ति ॥

(छान्दोग्योपनिषद् ८.६.६)

इसका अर्थ यह है कि जीव किस योनि में जायेगा इसका सम्बन्ध इस बात से भी है कि उसके प्राण किस नाड़ी से निकलते हैं ? जिन १०१ नाड़ियों का ऊपर वर्णन है। उनमें एक नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र से जाती है, ५० दक्षिण पार्श्व से तथा ५० वाम पार्श्व से। ब्रह्मरन्ध्र तक जाने वाली नाड़ी सुषुम्ना है। इसका सूर्य केन्द्र से सीधा सम्बन्ध है। यह महापथ कहलाती है। यह सूर्य को हृदय से जोड़ती है। इसके द्वारा विज्ञानात्मा सूर्य से जुड़ता है। यही आयु की रक्षक है। यह शुक्लवर्णा है। विदेह पुरुष इसी के द्वारा क्षण मात्र में आदित्य लोक में पहुँच जाते हैं (छान्दोग्योपनिषद् ८.६.१)। हृदय से ऊपर की नाड़ियाँ देवयान मार्ग का तथा हृदय के नीचे की नाड़ियाँ पितृयान मार्ग का कारण बनती हैं। इस प्रकार नाड़ियों के निमित्त से आत्मा की गति जानी जा सकती है।

कर्मों का नाड़ियों से समन्वय करें तो विद्या से युक्त कर्म ऊर्ध्वनाड़ी द्वारा देवयान के कारण बनते हैं। विद्या रहित कर्म हृदय से नीचे की नाड़ियों द्वारा पितृयान के कारण बनते हैं। इनमें भी विद्यायुक्त कर्म से देवपथ प्राप्त होता है जो दाँयें बाँयें हृदय से ऊपर वाली नाड़ियों के माध्यम से प्राप्त होता है। विद्यारहित प्रवृत्ति कर्म से हृदय से नीचे के भाग में दाँयें बाँयें जाने वाली नाड़ियों से पितृपथ प्राप्त होता है। विद्यायुक्त निवृत्ति कर्म, विद्या रहित निवृत्त कर्म तथा लौकिक निवृत्ति कर्मों से ब्रह्मपथ द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है। यह ब्रह्मरन्ध्र वाली एक नाड़ी का फल है। भूकेन्द्र में जाने वाली अधोनाड़ी यम-पथ में ले जाती है जो निरर्थक निषिद्ध और स्वार्थ परक कर्मों का फल है। नाड़ियों को थोड़ा और विस्तार से समझें।

हमारे शरीर में तीन प्रकार की नाड़ियाँ हैं—(१) स्नायु, जो चेतना का वहन करती है, (२) धमनी जो प्राणवायु का वहन करती है और (३) शिरा जो शरीर के रसों का वहन करती है। यही ज्ञान, क्रिया और अर्थ का वहन करने वाली तीन नाड़ियाँ हैं। इन तीन के द्वारा ही प्रत्यगात्मा सर्वांगशरीर में ज्ञान, क्रिया, अर्थ रूप चेतना, प्राण और रस का ग्रहण करती है। इन नाड़ियों में शिरा का देवता विराट् अग्नि है, धमनी का हिरण्यगर्भ और स्नायु का देवता सर्वज्ञ इन्द्र है। विराट् अग्नि, हिरण्यगर्भ वायु और सर्वज्ञ इन्द्र की समष्टि आधिदैविक सत्य आत्मा है। वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ आध्यात्मिक सत्य हैं। इनमें आधिदैविक आत्मा माक्षी है, आध्यात्मिक आत्मा भोक्ता है। वैश्वानर का सम्बन्ध अपान से है, तैजस का सम्बन्ध व्यान से और प्राज्ञ प्राण से जुड़ा है। इमलिये अपान अर्थ-प्रधान है, व्यान क्रिया-प्रधान है, प्राण ज्ञान-प्रधान है। इनमें अपान का सम्बन्ध

है शिरा से, व्यान का धमनी से और प्राण का म्नायु से सम्बन्ध है ! इन तीनों में मध्यस्थ व्यान मुख्य है जिस पर प्राण और अपान टिके हैं । इगलिये प्राण और अपान चले भी जायें तो व्यान के बने रहने पर शरीर नहीं छूटता ।

### प्राणों से नाड़ियों का सम्बन्ध

हृदय में प्राण है । उसका सम्बन्ध पार्थिव नाड़ियों से है । कण्ठ में उदान है । उसका सम्बन्ध तेजोनाड़ी से है । शरीर में व्यान है । उसका सम्बन्ध व्योमनाड़ी से है । नाभि में समान है उसका सम्बन्ध वायव्यनाड़ी से है । गुदा में अपान है । उसका सम्बन्ध जलीयनाड़ी से है । ये पाँचों प्राण पञ्चभूत नाड़ियों को पुष्ट रखते हैं तथा उनकी रक्षा करते हैं । पार्थिवप्राण से जुड़ी हुई ज्ञानेन्द्रियाँ नासा है तथा उससे कोई कर्मेन्द्रिय नहीं जुड़ी है । जल से जिह्वा ज्ञानेन्द्रिय के रूप में जुड़ी है तथा शिरन कर्मेन्द्रिय के रूप में जुड़ा है । वायु से पाणि कर्मेन्द्रिय के रूप में जुड़ा है और त्वक् ज्ञानेन्द्रिय के रूप में जुड़ी है । आकाश में श्रोत्र ज्ञानेन्द्रिय के रूप में जुड़ा हुआ है, वाक् कर्मेन्द्रिय के रूप में जुड़ी है । तेज से चक्षु ज्ञानेन्द्रिय के रूप में जुड़ा है और पाद कर्मेन्द्रिय के रूप में जुड़ा है । इनमें प्रत्येक भूत से १४४०० नाड़ियाँ जुड़ी हैं । इस प्रकार कुल ७२००० नाड़ियाँ पञ्चभूतों से जुड़ी हैं ।

पाँचभूतों में से प्रत्येक भूत का सम्बन्ध तीन-तीन द्रव्यों से है तथा प्रत्येक द्रव्य की ४८००-४८०० नाड़ियाँ हैं । इस प्रकार कुल ७२००० नाड़ियाँ हो जाती हैं ।

पृथ्वी के तीन द्रव्य हैं—अस्थि, मांस और त्वचा । जलीय द्रव्य भी तीन हैं—शुक्र, शोणित और मज्जा । क्षुधा, तृषा और निद्रा तैजस द्रव्य हैं । धावन, चलन और भाषण तीनों वायव्य द्रव्य हैं । द्वेष, लज्जा और भय आकाशीय द्रव्य हैं ।

पाँच भूतों से जुड़ी पाँच नाड़ियों की चार सन्धियाँ हैं । नाभि से हृदय के बीच नागप्राण है । मूल द्वार से नाभिपर्यन्त एक प्रदेश है । इसके बीच में कूर्मप्राण रहता है । हृदय से कण्ठ के बीच कृकलप्राण है । कण्ठ से ब्रह्मरन्ध्र के बीच देवदत्तप्राण है । ये चारों ऋतप्राण हैं । ये प्राण और अपान के बीच स्थित है । प्राण और अपान दोनों सत्यप्राण हैं । इस प्रकार सत्य के बीच ऋत है । इन पाँचों प्राणों को धनञ्जय नामक ऋतप्राण ने अपने में समेट रखा है ।

नाग का काम उद्धार है । निमेषोन्मेष का कारण कूर्म है । कृकल भूख प्यास का कारण है । देवदत्त जूम्भा का कारण होता है । धनञ्जय से शोथ होता है ।

वेद की यह विशेषता है कि वह अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूत तीनों में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव स्थापित करता है । अध्यात्म जीव संस्था है, अधिदैवत ब्रह्मसंस्था है और अधिभूत विश्वसंस्था है । हमने वर्तमान अधिकरण में अध्यात्म अथवा जीवसंस्था का विस्तार किया है, किन्तु क्योंकि जीवसंस्था ब्रह्मसंस्था और विश्वसंस्था में समता है इसलिए जीवसंस्था का वर्णन करते समय आनुपङ्गिक रूप में शेष दो संस्थाओं का उल्लेख भी अनायास ही हो गया है । अब हम अगले दो अधिकरणों में क्रमशः ब्रह्म तथा विश्व को केन्द्र में रखकर विचार करेंगे । उस विचार

में भी आनुषङ्गिक रूप में जीव का उल्लेख हो सकता है। वेद की समग्र-दृष्टि का यह फल है कि हम किसी एक विषय को शेष विषयों से सर्वथा विच्छिन्न नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में अनिवार्य पुनरावृत्ति को बचाया नहीं जा सकता। उपर्युक्त तीनों विषयों का पारस्परिक सम्बन्ध निम्न तालिका से स्पष्ट होता है।

जीव/अध्यात्म	ब्रह्म/अधिदेवत	विश्व/अधिभूत
१ अव्यक्त	१ स्वयम्भू	१ आकाश
२ महान्	२ परमेष्ठी	२ वायुः
३ बुद्धिः	३ सूर्यः	३ तेजः
४ मनः	४ चन्द्रमा	४ जलम्
५ शरीरम्	५ पृथिवी	५ मृत्

इन तीनों में से जीव पर विचार करने के बाद अब हम द्वितीय अध्याय में ब्रह्म पर विचार करेंगे तथा तृतीय अध्याय में विश्व पर विचार करेंगे।

## द्वितीय अध्याय

### ब्रह्माधिकरण

सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य सदा से मानव के मन को आन्दोलित करता रहा है। वेदों में इस विषय पर पर्याप्त ऊहापोह हुआ है कि सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई ? प्रस्तुत अधिकरण में हम सृष्टि के मूल कारण पर विचार करेंगे। ऋग्वेद (१०.८१.१) में विश्वकर्मा ऋषि ने सृष्टि के सम्बन्ध में तीन प्रश्न उठाये हैं।

#### ब्रह्मजिज्ञासा

ऋषि विश्वकर्मा पूछते हैं कि इस भूमि को उत्पन्न करने वाले ने अपना अधिष्ठान क्या बनाया ? वह कौन सा उपादान कारण था जिसके द्वारा उसने सृष्टि का निर्माण किया और वह कौनसी प्रक्रिया थी जिससे उसने सृष्टि का निर्माण किया ? किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्विद् आसीत् (ऋग्वेद १०.८१.२) । आगे इसी प्रश्न को वे इस प्रकार कहते हैं कि इस द्यावापृथिवी के निर्माण में कौन सा वन था जिस वृक्ष और जिस वृक्ष की शाखा द्यावापृथिवी के निर्माण में काम आयी ? किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः (ऋग्वेद १०.८१.४) । विश्वकर्मा ऋषि के प्रश्न को यदि हम आज के दर्शन की भाषा में रखें तो प्रश्न का स्वरूप यह होगा कि सृष्टि का आलम्बन क्या है, निमित्त कारण क्या है और उपादान कारण क्या है ऋग्वेद में जो प्रश्न विश्वकर्मा ऋषि ने उठाया उसके उत्तर में तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह उत्तर दिया गया कि ब्रह्म ही वन है, ब्रह्म ही वह वृक्ष है, ब्रह्म ही वह शाखा है जिसको तराश कर द्यावापृथिवी का निर्माण हुआ।

उपर्युक्त तैत्तिरीय ब्राह्मण के वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म सृष्टि का आलम्बन भी है, सृष्टि का निमित्त कारण भी है और सृष्टि का उपादान कारण भी है। इसी आधार पर ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म का लक्षण इम रूप में किया गया है कि ब्रह्म वह है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति होती है, जिस पर सृष्टि टिकी हुई है और जिसमें सृष्टि का विलय हो जाता है—जन्माद्यस्य यतः (ब्रह्मसूत्र १.२) ।

## ब्रह्मशब्द की व्युत्पत्ति

व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखें तो ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति बृंह धातु से मनिन् प्रत्यय लगाकर हुई है (उणादि सूत्र ४.१.४६)। बृंह का अर्थ है—बृंहण अर्थात् विस्तार। अभिप्राय यह है कि ब्रह्म से ही संसार का विस्तार हुआ है। बृंहण की यह विशेषता है कि जिस पदार्थ का बृंहण होता है वह पदार्थ अपने मूल रूप को छोड़ता नहीं। जैसे समुद्र में तरङ्ग उत्पन्न होती है तो उससे समुद्र का अपना रूप समाप्त नहीं हो जाता। इसी प्रकार ब्रह्म के बृंहण से संसार बनता है, किन्तु इस कारण ब्रह्म अपना मूल स्वरूप छोड़ नहीं देता। ब्रह्म से संसार की उत्पत्ति की यही प्रक्रिया है। ब्रह्म शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार भृ धातु से मन् प्रत्यय लगाकर ब्रह्म शब्द बना है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्रह्म शब्द के दो अर्थ हो जायेंगे—‘भ्रीयते जगदस्मिन्’ तथा ‘भ्रीयते जगदनेन’ अर्थात् जो संसार का अधिकरण है और संसार को धारण करने वाला है। इस प्रकार ब्रह्म शब्द की तीन व्युत्पत्तियों के आधार पर भी यही सिद्ध होगा कि ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है। वैदिक भाषा में ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति का कारण होने के नाते उक्थ, स्थिति का कारण होने के नाते प्रतिष्ठा तथा जगत् में व्याप्त होने के नाते साम कहलाता है।

## आभु और अभ्व

यह प्रसिद्ध है कि कारण के गुण कार्य में आते हैं—*कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते*। इस नियम के आधार पर हम कार्य के गुणों से कारण के स्वरूप का अनुमान कर सकते हैं। ब्रह्म का स्वरूप जानने के लिये यही प्रक्रिया अपनायी पड़ेगी क्योंकि ब्रह्म का कार्य जगत् अभिव्यक्त है, जबकि जगत् का कारण ब्रह्म अव्यक्त है और व्यक्त से ही अव्यक्त का अनुमान किया जा सकता है। अव्यक्त स्वयं कभी प्रत्यक्षगोचर नहीं होता।

हम जगत् के किसी भी पदार्थ को लें तो उसके दो पक्ष प्रतीति में आयेंगे—स्थिर और परिवर्तनशील। इन्हीं दो पक्षों को वेद में अज और रजस् कहा गया है। किसी पदार्थ के स्थिर स्वरूप के कारण ही हम उसमें परिवर्तन हो जाने पर भी उसे पहचान लेते हैं, किन्तु साथ ही उस पदार्थ के परिवर्तनशील पक्ष के कारण हमारी प्रतीति में यह भी आता है कि वह पदार्थ बदल गया। संसार की इस प्रकृति को देखकर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि संसार के मूल में भी जो कारण रहा होगा उसके दो ही पक्ष होंगे—स्थिर और परिवर्तनशील। इन्हीं दो पक्षों को वेद की भाषा में आभु और अभ्व कहा जाता है। वेदान्ती इसे ब्रह्म और माया कहते हैं। साङ्ख्यदर्शन में इन्हें पुरुष और प्रकृति कहा जाता है। वेद इन्हें अमृत और मृत्यु भी कहता है तथा साथ ही यह घोषणा भी करता है कि मृत्यु में अमृत और अमृत में मृत्यु अन्तर्निहित है—*अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् (शतपथ १०/५/२/४)*। गीता में कहा गया है—*अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन (गीता ९.१९)*। अभिप्राय यह है जहाँ स्थिरता है वहाँ परिवर्तन है और जहाँ परिवर्तन है वहाँ स्थिरता है।

पण्डित मधुसूदन ओझा ने इन्हीं दो तत्त्वों को रस और बल कहा है। रस और बल का

परस्पर अविनाभावसम्बन्ध है। रस ब्रह्म है, बल उसकी शक्ति है। जिस प्रकार दर्शन में शक्ति और शक्तिमान् में अभेद माना जाता है; उसी प्रकार रस और बल की दो अवधारणाएँ हैं, किन्तु तत्त्व एक ही है। ब्रह्म तो शास्त्रों में प्रसिद्ध है ही, उसकी शक्ति भी त्रिगुणात्मिका माया अथवा प्रकृति के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्म अपनी इस त्रिगुणात्मक शक्ति के सहयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करता है। ब्रह्म की माया अपनी सुप्तावस्था में बल कहलाती है, जागृत होकर कार्यान्मुख होकर शक्ति कहलाती है और कार्य रूप में परिणत हो जाने पर क्रिया कहलाती है।

संक्षेप में इस पृष्ठभूमि को देने के अनन्तर हम सृष्टिविषयक प्रसिद्ध नासदीय सूक्त (ऋग्वेद १०.१२९) के आधार पर सृष्टि की उत्पत्ति पर विचार करेंगे।

### सृष्टि से पूर्व की अवस्था

वैदिक साहित्य में सृष्टि के उद्भव पर विचार करते हुए यह भी विचार किया गया है कि सृष्टि के उद्भव के पूर्व की स्थिति कैसी थी? वस्तुस्थिति यह है कि हमारा मन सृष्टि का एक भाग है और वह केवल सृष्टि की ही विविध अवस्थाओं की कल्पना कर सकता है। सृष्टि के पूर्व की अवस्था की कल्पना मन नहीं कर सकता। यह मन की सीमा है। केनोपनिषद् कहता है कि जगत् का मूल कारण—जो कि कारण होने के कारण कार्य से पूर्व भी होना चाहिए—ब्रह्म है और यह ब्रह्म मन का भी कारण है। मन इसी ब्रह्म से उद्भूत हुआ है, किन्तु मन अपने कारण, ब्रह्म, पर मनन नहीं कर सकता—

*यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।*

*तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ (केनोपनिषद् १.६)*

### तर्क का विषय प्रकृति

दूसरी भाषा में कहें तो सृष्टि या प्रकृति ही तर्क-वितर्क विश्लेषण अथवा विचार-विमर्श का विषय बन सकती है, जो प्रकृति से भी परे है, वह तर्क-वितर्क का विषय नहीं बन सकता। अतः ऐसे अचिन्त्य भाव को तर्क द्वारा जानने का प्रयत्न व्यर्थ है—

*अचिन्त्याः खलु ये भावा न तास्तर्केण चिन्तयेत् ।*

*प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥*

सांख्य दर्शन की भाषा में कहें तो प्रकृति में ही कार्यकारणभाव है, पुरुष में नहीं। मूलप्रकृति कारण है, कार्य नहीं। मूलप्रकृति यद्यपि किसी का कार्य नहीं है, किन्तु बुद्धि का कारण है। बुद्धि अहङ्कार का कारण है। इसलिए मूलप्रकृति प्रकृति है; बुद्धि तथा अहङ्कार प्रकृति-विकृति है, क्योंकि ये मूल प्रकृति के कार्य हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्रा तथा मन, इन १६ के कारण हैं। पञ्चभूत केवल पञ्चतन्मात्राओं के कार्य हैं, वे किसी के कारण नहीं हैं, अतः वे केवल विकृति हैं। सारांश यह है कि समस्त प्रकृति कार्य-कारण शृङ्खला में बंधी हुई है, अतः वह तर्क का विषय है, क्योंकि समस्त तर्क कारण-कार्यसम्बन्ध पर ही टिके हैं। जो प्रकृति से परे है वह



कारण-कार्यसम्बन्ध से भी परे है, इसीलिए वहाँ तर्क की भी गति नहीं है। इसी स्थिति को अचिन्त्य कहा गया है।

### शब्द का विषय नामरूपात्मक जगत्

एक अन्य दृष्टि से इसी स्थिति को समझने का प्रयत्न किया जा सकता है। मन सीमित को ग्रहण कर सकता है, असीम को नहीं। जो सीमित है उसका रूप है, उसका नाम है। मन अथवा तर्क नाम तथा रूप के माध्यम से ही पदार्थ को ग्रहण करते हैं। सृष्टि के समस्त पदार्थ नाम और रूप वाले हैं। जब सृष्टि नहीं थी तो नाम और रूप भी नहीं थे। इसलिए सृष्टि के पहले की अवस्था में मन या तर्क की गति नहीं हो सकती।

जहाँ मन या तर्क की गति नहीं है, वहाँ शब्द भी कुण्ठित हो जाता है इसलिए केनोपनिषद् ने कहा है—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ (केनोपनिषद् १.४)

### निषेधात्मक भाषा में महाप्रलय की अवस्था का वर्णन

भाषा जब किसी स्थिति का वर्णन विधि-मुख से नहीं कर सकती तो निषेध-मुख पद्धति काम में लेती है। इसी पद्धति का सहारा लेकर ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि के पहले की स्थिति का वर्णन निषेध-मुख की भाषा में किया गया है। न उस समय असत् था, न सत् था, न रज था, न व्योम, नृ मत्यु न अमृत, न रात, न दिन। यह निषेध की भाषा सृष्टि के पहले की स्थिति को समझने में हमारी अशक्यता को द्योतित करती है। इसी नासदीय सूक्त के अन्त में इस स्थिति को समझने में सृष्टि के अध्यक्ष की भी अक्षमता बताई गई है। वहाँ कहा गया है कि जो इस सृष्टि का परम व्योम में स्थित अध्यक्ष है वह भी सृष्टि के पहले की स्थिति को न जान पाएगा—

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद

(ऋग्वेद १०.१२९.७)

वस्तुतः सृष्टि के अध्यक्ष को भी सृष्टि बनाने के बाद ही सृष्टि का अध्यक्ष कहा जा सकता है। सृष्टि के पहले की स्थिति को वह भी नहीं जान सकता। ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी रहती है। यह त्रिपुटी भी सृष्टि का ही भाग है। जब सृष्टि नहीं है तो यह त्रिपुटी भी नहीं है।

### विधि की भाषा में सृष्टि से पूर्व की अवस्था का वर्णन

निषेधपरक इस वर्णन से भ्रम हो सकता है कि सृष्टि के पूर्व कुछ था ही नहीं, किन्तु यदि ऐसा मान लें तो इसका यह अर्थ होगा कि सृष्टि शून्य में से उत्पन्न हो गई, किन्तु विज्ञान का सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि शून्य से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। गीता कहती है असत् से कोई भाव पैदा नहीं होता—*नासतो विद्यते भावः* (गीता २.१६)। इसलिए सबका निषेध कर देने के बाद नासदीय सूक्त कहता है—

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्दान्यन् परः किञ्चनास ।

(ऋग्वेद १०.१२९.२)

इस पङ्क्ति में सृष्टि के पहले की स्थिति को आनीत् क्रिया के द्वारा प्रकट किया गया है। 'आनीत्' का अर्थ वही है जो अर्थ प्राण का है, किन्तु दोनों के बीच महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि प्राण में 'प्र' उपसर्ग है, आनीत् में उपसर्ग नहीं है। 'प्र' का अर्थ है प्रकृष्टता। जो प्रकृष्ट होता है वह अभिव्यक्त होता है। यदि ऋषि 'प्राणीत्' कहता तो वह प्राण की व्यक्त अवस्था को बताता, 'आनीत्' कहने से उस शक्ति की अव्यक्तता का बोध होता है। शक्ति की उसी अव्यक्त अवस्था को यहां 'स्वधा' कहा गया है। स्वधा का अर्थ है—स्वयं की शक्ति। शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होता है। वे दो नहीं हैं। इसलिए यहां 'एकम्' का प्रयोग है। यद्यपि वह 'एक' 'स्वधा सहित' है, तथापि उसके एकत्व में कोई अन्तर नहीं आता। हम ऊपर कह चुके हैं कि उस स्थिति में रूप नहीं था। उसके लिए 'तत्' सर्वनाम का प्रयोग किया गया है। सामान्यतः पहली बार संज्ञा का प्रयोग करके फिर उसके लिए सर्वनाम का प्रयोग होता है, किन्तु यहाँ संज्ञा का प्रयोग किए बिना ही सर्वनाम का प्रयोग कर दिया गया है क्योंकि यह हमारी विवशता है कि संज्ञा का प्रयोग यहाँ हो नहीं सकता। यद्यपि उपसर्ग के बिना 'आनीत्' धातु के प्रयोग से ही उस समय शक्ति की अव्यक्तता द्योतित हो जाती है, तथापि 'अवातम्' कहकर ऋषि ने स्पष्ट रूप में उस समय क्रिया का भी निषेध कर दिया। स्वधा सहित उस एक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था, यह कहने के लिए 'तस्माद्दान्यन् न परं किञ्चनास' यह कहा गया है। यहाँ भी 'तस्मात्' में एकवचन का प्रयोग इस बात का सूचक है कि ऋषि उस एक अनाम तत्त्व के साथ स्वधा की शक्ति मानकर भी दो की सत्ता को नहीं मान रहा। इसलिए सायणाचार्य ने नासदीय सूक्त पर भाष्य लिखते हुए कहा कि वह ब्रह्म अपनी शक्ति से उस समय विभक्त नहीं हुआ था, अविभक्त ही था—*तया तद् ब्रह्मैकमविभागापन्नमासीत्*। यदि ब्रह्म में शक्ति होगी ही नहीं तो वह कभी भी सृष्टि की उत्पत्ति नहीं कर सकेगा किन्तु यदि ऐसा मान लें कि ब्रह्म में उस समय शक्ति उद्बुद्ध अवस्था में थी तो फिर वह सृष्टि का अवस्था ही हो जाएगी, सृष्टि के पहले की अवस्था न कहलाएगी। अतः यह मानना होगा कि उस समय शक्ति तो थी, किन्तु वह अपनी सुषुप्तावस्था में शक्तिमान् के साथ अविभक्त रूप में थी।

### प्रकृति की साम्यावस्था

साङ्ख्य दर्शन सृष्टि के पहले यह मानता है कि उस समय प्रकृति अपनी साम्यावस्था में थी। शतपथब्राह्मण में प्रकृति की साम्यावस्था को दूसरी भाषा में कहा गया है कि उस समय सभी देव एक जैसे थे—*सर्वे ह वै देवा अग्रे सदृशा आसुः*। नासदीय सूक्त में इसी स्थिति का और अधिक विस्तार करते हुए कहा गया है कि उस समय अन्धकार से आवृत्त अन्धकार था—*तम आसीतमसा गूळमग्रे*। कोई पदार्थ अन्धरे में दिखाई देता है तो उसे हम अन्धकार से आवृत्त कहते हैं, किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में तो सभी कार्य अपने कारण में छिपे हुए थे। इस कारण वे अव्यक्त थे। इस प्रकार पदार्थों के दिखाई न देने का कारण दुहरा था—एक तो वे अपने कारण में छिपे थे,

दूसरे उस समय प्रकाश का अभाव था। यही तम से तम का आवृत्त होना है। मनु ने इसी स्थिति का वर्णन इस रूप में किया है कि उस समय जो अन्धकार था उसमें न कुछ जाना जा सकता था, न उसका कोई चिह्न था, न उसके बारे में विचार किया जा सकता है, न निर्देश; मानों सब कुछ सोया हुआ था—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।

अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (मनुस्मृति १.५)

## आभु और परात्पर

उस समय जो पदार्थ था उसे श्रुति 'आभु' कहती है क्योंकि वह सब ओर था। उसकी सत्ता देशकालावच्छिन्न नहीं है; इसलिए उसे आभु कहा गया है। क्योंकि इस सृष्टि में जो कुछ सूक्ष्मतम है वह आभु उससे भी परे था इसलिए उसे परात्पर भी कहा जाता है। मुण्डकोपनिषद् में इस परात्पर स्थिति का वर्णन इस रूप में किया गया है कि जिस प्रकार नटियां अपने नाम और रूप को छोड़कर लीन हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् नाम और रूप से छूटकर दिव्य परात्परपुरुष को प्राप्त होता है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

(मुण्डकोपनिषद् ३.२.८)

तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसी परात्पर स्थिति का वर्णन इस रूप में है कि न इससे कुछ पर है न अपर, न इससे कुछ छोटा है न बड़ा—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्

(तैत्तिरीय ब्राह्मण, १०.१०.२०)

श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि न उसका कार्य है न कारण, न कोई उसके समान है, न अधिक। उसकी शक्ति स्वाभाविक है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.८)

उपर्युक्त श्रुतियों के आधार पर परात्पर स्थिति के सम्बन्ध में तीन तथ्य स्पष्ट होते हैं—

- (१) परात्पर में नाम-रूप नहीं है।
- (२) परात्पर देशकालाद्यनवच्छिन्न है।
- (३) परात्पर कार्यकारणभावातीत है।

इन तीन निषेधमुख वाक्यों से परात्पर को कहा जा सकता है। विधिमुख से भी परात्पर के सम्बन्ध में तीन वक्तव्य दिए जा सकते हैं—

- (१) **तद्**—वह नामरहित है अतः उसके लिए सर्वनाम का प्रयोग किया जा सकता है, क्योंकि उसमें सब नाम छिपे हुए हैं। सब नामरूपों का उद्भव उसी से होता है।
- (२) **एकम्**—वहाँ देश-काल अथवा कार्य-कारण किमी प्रकार का विभाजन नहीं है। अतः वह द्वैत से परे एक है।
- (३) **स्वधया**—वह शक्तिमान् शक्ति से युक्त है, किन्तु वह शक्ति अभी सुपुजावस्था में है इसलिए उसे 'प्र' उपसर्ग रहित 'आनीत्' क्रियापद से कहा जाता है। यह शक्ति अपना कार्य नहीं कर रही इसलिए वहाँ कोई क्रिया नहीं है। इस बात को 'अवातम्' विशेषण द्वारा कहा गया है। इस प्रकार शब्दातीत उस परात्पर स्थिति का वर्णन श्रुति ने निषेध-मुख और विधिमुख दोनों प्रकार से किया है, तथापि वस्तुस्थिति यही है कि वह स्थिति शब्द और तर्क दोनों से परे है।

### सृष्टि का आदिबिन्दु : स्रष्टा की सिसुक्षा

सृष्टि के पूर्व परात्पर की स्थिति में स्वधा अथवा शक्ति उद्बुद्ध नहीं थी इसलिए वह सर्जन रूप अपना कार्य करने में समर्थ होने पर भी उस कार्य को नहीं कर पा रही थी। सृष्टि का प्रारम्भ बिन्दु इसी अनुद्बुद्ध शक्ति का उद्बुद्ध हो जाना है।

### शक्ति का जागरण

प्रश्न होता है कि अनुद्बुद्ध शक्ति उद्बुद्ध क्यों होती है ? वस्तुस्थिति यह है कि सृष्टि और प्रलय का एक क्रम है। सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि, यह क्रम अनादिकाल से चला आ रहा है। जैसे दिन के बाद रात और रात के बाद दिन आता है, उसी प्रकार प्रलय के बाद सृष्टि और सृष्टि के बाद प्रलय होता है। गीता में सृष्टि को ब्रह्मा का दिन और प्रलय को ब्रह्मा की रात कहा है। दिन के आने पर अव्यक्त से व्यक्त उत्पन्न हो जाता है और रात्रि के आने पर वह पुनः अव्यक्त में ही लीन हो जाता है—

*अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।*

*रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥*

(गीता ८.१८)

### कर्माध्यक्ष की सिसुक्षा

प्रश्न होता है कि प्रलय के बाद सृष्टि और सृष्टि के बाद प्रलय का यह क्रम क्यों और कब होता है ? नासदीय सूक्त की व्याख्या करते समय सायणाचार्य ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है। उनका कहना है कि जीवात्माओं के कर्म एक अवधि विशेष के बाद अपना फल देते हैं, तत्काल नहीं। सृष्टि के क्रम में एक ऐसा बिन्दु आता है जब किसी भी प्राणी के कर्म इस परिपक्व अवस्था में नहीं होते कि वे अपना फल दे सकें। ऐसी स्थिति में सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रहता। अतः प्रलय हो जाता है। एक विशेष अवधि के बाद प्राणियों के वे कर्म उस परिपक्व अवस्था में आ

जाते हैं कि वे अपना फल दे सकें। क्योंकि ईश्वर कर्मों का अध्यक्ष है इसलिए ऐसी स्थिति आने पर उसके मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हो जाती है और यह इच्छा ही सृष्टि का प्रारम्भ बिन्दु है—

अतीते कल्पे प्राणिभिः कृतं पुण्यात्मकं कर्म भूष्णु वर्धिष्णवजायत  
परिपक्वं सत् फलोन्मुखमासीदित्यर्थः। ततो हेतोः कर्माध्यक्षस्य  
परमेश्वरस्य मनसि सिसृक्षा अजायत।

(सायणभाष्य, ऋग्वेद १०.१२९)

नासदीय सूक्त स्पष्ट कहता है कि सर्वप्रथम सृष्टि की कामना होती है—*कामस्तदग्रे समवर्तताधि*। नासदीय सूक्त ही यह भी बताता है कि यह काम मन का प्रथम बीज है—*मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्*। मन और कामना का अविनाभावसम्बन्ध है। कामना उत्पन्न हुई तो मन उत्पन्न हो गया—यह सृष्टि का आदि बिन्दु है। परात्पर स्थिति का एकत्व मन के उत्पन्न होते ही द्वैत में बदल गया। द्वैत कभी देशकालानवच्छिन्न नहीं हो सकता, नाम-रूप रहित नहीं हो सकता, कार्यकारणभावातीत नहीं हो सकता। मन का उत्पन्न होना ही परात्पर से सृष्टि के उद्भव का प्रारम्भ बिन्दु है। कामना उत्पन्न होने का कारण हम बता ही चुके हैं कि इस सृष्टि के पूर्व सृष्टि के प्राणियों के कर्म जब परिपक्व होकर फलोन्मुख हो गए तो यह आवश्यक हो गया कि सृष्टि हो, क्योंकि सृष्टि के बिना प्राणी अपने कर्मों का फल नहीं भोग सकते।

## आभु और अभ्व

अद्वैत-सिद्धान्त में जीवात्माओं के कर्मों का अपरिपक्व होना कहें या परमेश्वर की स्वधा शक्ति का अनुद्बुद्ध होना कहें, एक ही बात है। जैसे ही परमेश्वर के मन में सिसृक्षा उत्पन्न होती है वैसे ही अपरिमित परिमित हो जाता है, अव्यक्त व्यक्त हो जाता है, अनिरुक्त निरुक्त हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति के ये ही दो रूप बताए हैं—निरुक्त और अनिरुक्त, परिमित और अपरिमित—

उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च परिमितञ्चापरिमितञ्च।

(शतपथब्राह्मण ६.५.३.७)

जब तक कामना नहीं है, तब तक वह अपरिमित है और इसलिए वह अनिरुक्त है। जैसे ही कामना होती है वह परिमित हो जाता है और निरुक्त हो जाता है। यह अव्यक्त के व्यक्त होने का रहस्य है, एक के अनेक होने का रहस्य है, सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य है। कारण रूप में वह एक है, कार्यरूप में वह अनेक है—*एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्*। (ऋग्वेद ८.५.८.२)। नासदीय सूक्त में 'आभु' शब्द आया है। आभु से ही जुड़ा हुआ दूसरा शब्द अभ्व है। यह अभ्व ही ब्रह्म की शक्ति का अभिव्यक्त रूप है जिसे नाम और रूप द्वारा व्याख्यायित किया जाता है। शतपथ-ब्राह्मण में ब्रह्म की इस अभ्वशक्ति का बहुत सजीव चित्रण किया गया है। ब्रह्म ने सोचा कि मैं इन लोकों में कैसे प्रकट होऊँ? तब वह नाम और रूप दो के द्वारा लोकों में प्रकट हुआ। जिस-जिस का नाम होता है उसे हम नाम से जान लेते हैं और जिसका नाम नहीं होता है उसे हम रूप द्वारा

पहचानते हैं। ये दोनों ब्रह्म के बड़े अभ्व हैं, ये दोनों ब्रह्म के बड़े यक्ष हैं। मन से रूप को जाना जाता है, वाणी से नाम का ग्रहण होता है—

तत्परार्थं गत्वैक्षत कथं न्विमांल्लोकान्प्रत्यवेयामिति तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैदूपेण चैव नाम्ना च यस्य कस्य च नामास्ति तन्नाम यस्यापि नाम नास्ति तद्वेद रूपेण—द्वे हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे । ते हैते ब्रह्मणो महती यक्षे ।—मनसा हि वेदेदं रूपमिति, वाचा हि नाम गृह्णाति । (शतपथ ब्राह्मण ११.२.३. ३-५) ।

जिसे यहां यक्ष कहा है उसे ही माया भी कहा गया है। इन्द्र द्वारा माया ही अनेक रूप धारण करती है—इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईर्यते। माया का अर्थ है परिमित बना देने वाली शक्ति। नाम और रूप ही पदार्थ को परिमित बनाते हैं। अपरिमित को परिमित बना देना एक आश्चर्य है। इसलिए इस शक्ति को यक्ष कहा गया है। स्वयं अभ्व शब्द को देखें तो इसका अर्थ होगा जो होकर भी नहीं है। आभु का होना स्थायी है, अभ्व का होना अस्थायी है। एक अमृतभाव है, दूसरा मृत्युभाव है। दोनों एक-दूसरे में ओतप्रोत हैं—अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् (शतपथ ब्राह्मण १०.५.२.४) । अस्तित्व अमर है। उसमें होने वाले विकार क्षणभङ्गुर हैं। आभु को 'बीडंग' तथा अभ्व को 'बिकमिंग' कह सकते हैं। इनमें एक के बिना दूसरे की स्थिति नहीं हो सकती (शतपथ ब्राह्मण १०.५.२.४) ।

उल्लेखनीय है कि वेद में सृष्टिविषयक सूक्तों को भाववृत्त कहा जाता है, अर्थात् इन सूक्तों में आभु कैसे भावविकारों से युक्त हुआ—इसका वर्णन है। सृष्टि उत्पन्न नहीं होती है, आभु भावविकारों से युक्त हो जाता है। उसे ही हम सृष्टि का उत्पन्न होना मान लेते हैं। यही अज का रजस् हो जाना है। अज अथवा आभु एक है, रजस् अथवा भावविकार छः हैं—अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति। ऋग्वेद कहता है—अजस्य रूपे किमपि स्वित्देकं षष्ठिमा रजांसि। ये छः भावविकार ही तो समस्त लोकों के मूल हैं। इसलिए लोकों को भी रजस् कहा जाता है—लोका रजांस्युच्यन्ते। ये षड्भावविकार एक क्षण में आते हैं दूसरे क्षण में चले जाते हैं इसलिए न इन्हें सत् कह सकते हैं, न असत्। ये सदसद्विलक्षण हैं। सारे षड्भावविकार अस्तित्व पर टिके हैं। अस्तित्व ही उनका स्रष्टा है और अस्तित्व उन सबमें ओतप्रोत भी है। इसलिए स्रष्टा सृष्टि से पृथक् नहीं है। वह सृष्टि में अनुप्रविष्ट है—तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् (शतपथ ब्राह्मण ६.३.२.५) ।

वस्तुतः परात्पर की स्थिति में अभी पुरुष का जन्म नहीं हुआ है। जिस पुरुष से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति पुरुष सूक्त में बताई गई है वह पुरुष कामना द्वारा परात्पर स्थिति में पुर बनने पर ही अस्तित्व में आता है। कामना द्वारा जैसे ही परात्पर सीमित होता है वैसे ही उसकी एक सीमा रेखा बन जाती है। इस रेखा को ही पुर कहा जाता है—लेखा हि पुरः (शतपथ ब्राह्मण ६.३.३.२.५) । इस पुर में आबद्ध स्रष्टा ही पुरुष कहलाता है क्योंकि पुर का अर्थ है जो पुर में शयन करता है—पुरि शेते। असीम का सीम हो जाना ही मानो उसका शयन करना है। जब तक त्रिगुणातीत था तब तक वह पूर्ण जागरुक था। जब वह कामना से आक्रान्त हुआ तब वह गुणों से आवृत्त हो गया,

मानो सो गया। पुरुष का यह सीमा में बँध जाना ही उसका यज्ञीय पशु भाव को प्राप्त हो जाना है—*अबध्नन् पुरुषं पशुम्*। यही पुरुष अपने को होम कर वह सर्वहुत यज्ञ करता है जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है।

### देवों का यज्ञ

नासदीय सूक्त में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि देवता सृष्टि के बाद उत्पन्न हुए—*अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन*। जीवाधिकरण के प्रारम्भ में हम बता चुके हैं कि पुरुष सूक्त में इस बात का चार बार उल्लेख हुआ है कि जिस यज्ञ से जो सृष्टि उत्पन्न हुई उस सृष्टि का सम्पादन देवताओं ने किया।

इसका अर्थ यह है कि सृष्टि के सर्जन की प्रक्रिया में देवों का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि जिस यज्ञ से यह सृष्टि उद्भूत हुई उस यज्ञ का सम्पादन देवों ने किया।

ब्राह्मणग्रन्थ निरन्तर इस बात पर बल दे रहे हैं कि देव प्राण हैं। समस्त क्रियाएं इन प्राणों का ही कर्म हैं। यज्ञ का एक अर्थ है—सङ्गतिकरण। सङ्गतिकरण क्रिया के बिना सम्भव नहीं है और क्रिया प्राण के बिना सम्भव नहीं है।

प्राण ही देव हैं। इसलिए श्रुति कहती है कि देवों ने यज्ञ किया। मैत्रायणीसंहिता कहती है कि प्राणों से यज्ञ सम्पादित हुआ—*प्राणेन यज्ञः सन्ततः (मैत्रायणी संहिता ४.६.२)*। क्योंकि देव = प्राण है, अतः दोनों वक्तव्यों का एक ही अर्थ है।

### प्राणों का तप

प्राण का व्यापार आन्तरिक है। इस आन्तरिक व्यापार को ही तप कहा जाता है। नासदीय-सूक्त कहता है कि इस तप की महिमा से जो आधु तुच्छ से आवृत था वह प्रकट हो गया। सांख्य की परिभाषा का उपयोग करें तो प्रकृति की साम्य-अवस्था प्रलय की अवस्था है। सिसृक्षा स्रष्टा के प्राण में जो अन्तर्व्यापार उत्पन्न करती है उसे श्रुति तप कहती है और सांख्य दर्शन क्षोभ कहता है। नासदीयसूक्त में 'अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्' कहकर एक बार प्रलय-अवस्था में जल का अभाव बताया गया है, किन्तु दूसरी बार "*सलिलं सर्वमा इदम्*" कहकर सलिल का सद्भाव बताया गया है। जे. गोंडा तथा डॉ. सूर्यकान्त जैसे विद्वानों ने यहां सलिल का अर्थ गतिशील या स्पन्दनशील किया है। इस प्रकार यह भी तप का ही सूचक है। यहां "तुच्छ" को सायणाचार्य ने "सदसद्विलक्षण" कहा है। आधु सद्रूप है, जो सदसद्विलक्षण तुच्छ से आवृत है। आधु के प्रसङ्ग में तुच्छ शब्द का अर्थ अभ्व मानना चाहिये। प्रलयावस्था में आधु और अभ्व एक दूसरे से अविभक्त थे, तप अथवा प्राण के अन्तर्व्यापार से वे दोनों पृथक् हुए। प्राण का यह व्यापार सिसृक्षा की कामना से हुआ। आधुनिक विज्ञान ब्रह्माण्ड का जन्म एक विस्फोट से मानता है। इस विस्फोट की स्थिति में भी ताप की सत्ता थी, किन्तु ताप का सम्बन्ध जड़ ऊर्जा से है। तप का सम्बन्ध चेतन प्राण से है। जड़ ऊर्जा से यदि ब्रह्माण्ड का जन्म होना माना जाय तो ब्रह्माण्ड में दिखने वाली व्यवस्था का कोई कारण नहीं ढूंढा जा सकेगा, किन्तु यदि तप से सृष्टि की उत्पत्ति मानी जाय तो

तप क्योंकि चेतन प्राण का व्यापार है इसलिए उसमें व्यवस्था स्थापित करने की शक्ति मानी जा सकती है। ऋग्वेद के अधमर्षणसूक्त में ऋषि जब यह कहता है कि तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए तो वह इसी बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है कि विश्व की व्यवस्था स्रष्टा के तप का परिणाम है—

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्वातपसोऽध्यजायत (ऋग्वेद १०.११०.१) ।

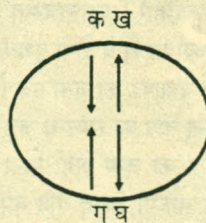
सृष्टि के बनने का अर्थ है—असीम का सीम हो जाना। जो सीमाबद्ध होता है उसका केन्द्र होता है। स्रष्टा का मन ही पुरभाव में आबद्ध पुरुष का केन्द्र है। इस मन की कामना ही प्राण देवों को व्याप्त करती है। प्राण देवों का यह व्यापार ही उस यजन अथवा सङ्गतिकरण का कारण है जो यजन अथवा यज्ञ-सृष्टि को उत्पन्न करता है।

### गति-आगति

मन की कामना से उत्पन्न होने वाला यह प्राणों का व्यापार मुख्यतः दो भागों में बँटा है—केन्द्र से परिधि की ओर गति और परिधि से केन्द्र की ओर आगति। प्रथम गति इन्द्र की है, दूसरी गति विष्णु की है। इन्हीं दो गतियों के बीच होने वाले संघर्ष को ऋग्वेद में “इन्द्रश्च विष्णुश्च पस्पधति” कहकर अभिव्यक्त किया गया है। परिधि की ओर इन्द्र की गति पदार्थ को विस्तार देती है, जो अग्नि का कार्य है तथा विष्णु की केन्द्राभिमुख गति संकोच करती है, जो सोम का रूप है। अग्नि में पड़ने वाली सोम की आहुति ही यज्ञ है। स्पष्ट है कि इस यज्ञ को देव सम्पन्न करते हैं।

प्राणों की अथवा देवों की यह गति तपरूप है। यह गति अन्धी नहीं है, अपितु ज्ञानमय है—*यस्य ज्ञानमयं तपः*। इसीलिए सायणाचार्य ने तप का अर्थ सृष्टव्य-पर्यालोचन किया है। नासदीयसूक्त में “हृद्” शब्द का प्रयोग है। यहाँ कहा गया है कि “हृद्” में ही कवियों ने बुद्धि द्वारा असत् से सत् का सम्बन्ध खोजा—*सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्य कवयो मनीषा*। ब्राह्मणग्रन्थों में इस हृदय शब्द की व्याख्या करते हुए “हृ” को इन्द्र का हरण “द” को विष्णु का दान और “यम्” को ब्रह्मा की स्थिति कहा गया है। ये तीनों मिलकर ही सृष्टि का निर्माण करते हैं।

नासदीयसूक्त में केन्द्राभिगामी तथा केन्द्रप्रतिगामी गतियों को अधः और उपरि शब्द द्वारा कहा गया है—*अधः स्विदासीत् उपरि स्विदासीत्*। एक वृत्त में यदि अधः और उपरि गतियाँ बनाई जायें तो कुछ गतियाँ केन्द्राभिगामी होंगी, कुछ केन्द्र-प्रतिगामी।

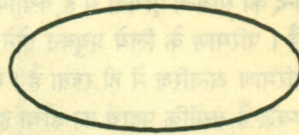




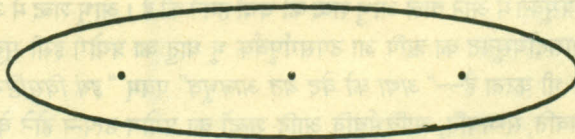
ऊपर के चित्र में क रेखा की अधोगति केन्द्राभिगामी है और ख रेखा की उपरिगति केन्द्र-प्रतिगामी है। इसी प्रकार ग रेखा की ऊर्ध्वगति केन्द्राभिगामी है और घ रेखा की अधोगति केन्द्र-प्रतिगामी है। इन दोनों गतियों में केन्द्राभिगामी गति विष्णु है, केन्द्रप्रतिगामी गति इन्द्र है। स्वयं केन्द्र अविचाली है। वह इन दोनों प्रकार की गतियों का आधार है। वही ब्रह्मा है। केन्द्राभिमुखगति के साथ जो तत्त्व केन्द्र की ओर आता है उससे पिण्ड का पोषण होता है। केन्द्रप्रतिगामी गति के साथ अग्नि द्वारा पिण्ड का विस्तार होता है। यह अग्नि और सोम मिलकर ही पिण्ड को सुरक्षित रखते हैं। अग्नि में सोम की आहुति वह यज्ञ है, जिससे सृष्टि बनी है।

### अक्षर से क्षर

गीता की भाषा में मन का सम्बन्ध अव्ययपुरुष से है तो प्राण की गति का सम्बन्ध अक्षर-पुरुष से है। यह अक्षरपुरुष की गति ही उस क्षर-पुरुष को जन्म देती है जिसे हम भौतिकजगत् कहते हैं। नासदीयसूक्त में ऊर्ध्वगति और अधोगति के अतिरिक्त तिरश्चीनगति का भी उल्लेख है। यह तिरश्चीनगति पृथिवी जैसे पिण्डों के सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने से अण्डाकृति मार्ग का निर्माण करती है। अण्डाकृति में अण्डाकृति को चित्रित करने वाली हर रेखा तिरश्चीन अथवा तिरछी होती है। नीचे बनाई गई अण्डाकृति को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है—



इस अण्डाकृति को अस्यवामीयसूक्त में त्रिनाभिक्र कहा गया है, क्योंकि वर्तुलाकारगति का एक केन्द्र होता है अण्डाकृति के तीन केन्द्र रहते हैं, जैसा कि नीचे के चित्र में स्पष्ट है—



इस प्रकार तिरश्चीन गति से पिण्डों का निर्माण होता है।

अक्षर पुरुष की गति के द्वारा जिस क्षरपुरुष का निर्माण होता है उसे नासदीयसूक्त की भाषा में दो भागों में बाँटा जा सकता है—स्वधा और प्रयति। स्वधा अन्न है। यहाँ अन्न से अभिप्राय समस्त भोग्य पदार्थों से है। प्रयति भोक्ता है। भोग्य अवर है। प्रयति उत्कृष्ट है—

स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् । सायण का भाष्य है—स्वधा अन्ननामैतत् । भोग्यप्रपञ्चः अवस्तात् अवरो निकृष्ट आसीत् । प्रयतिः प्रयतिता भोक्ता परस्तात् पर उत्कृष्ट आसीत् ।

## तप के पश्चात् श्रम तथा त्रिविध छन्द

प्राण का अन्तर्व्यापार यदि तप है तो भूत का बहिर्व्यापार श्रम है। भौतिकजगत् की उत्पत्ति का अन्तिम चरण यह श्रम ही है। श्रम द्वारा जब सृष्टि का निर्माण होता है तो तीन बिन्दुओं पर विचार किया जाता है—

- (१) किस उपादान से सृष्टि का निर्माण हो ? पारिभाषिक शब्दावली में इसे माछन्द कहा जाता है। इसका सम्बन्ध पृथिवी से हैं।
- (२) वह उपादान कितने परिमाण में हो ? इसे प्रमा छन्द कहते हैं। इसका सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है।
- (३) वह उपादान किस ढाँचे में ढाला जाये ? इसे प्रतिमा छन्द कहते हैं। इसका सम्बन्ध द्युलोक से हैं।

उदाहरणतः घट का उपादान कारण मिट्टी है। वह उसका माछन्द है। जितने परिमाण में घड़ा बनाने के लिये मिट्टी चाहिये वह उसका प्रमाछन्द है तथा जिस ढाँचे में घड़ा बनाने के लिये उस मिट्टी को ढालना है वह उसका प्रतिमा छन्द अथवा मॉडल है।

ऊपर हमने कहा कि माछन्द का सम्बन्ध पृथिवी से है, क्योंकि किसी भी पदार्थ का उपादान कारण कोई मूर्ततत्त्व ही होता है। परिमाण के लिये प्रयुक्त होने वाला प्रमा छन्द अन्तरिक्ष से सम्बद्ध है, क्योंकि पदार्थ का परिमाण अन्तरिक्ष में ही रहता है। मॉडल अथवा ढाँचे को बताने वाला प्रतिमाछन्द द्युलोक से सम्बद्ध है, क्योंकि पदार्थ का ढाँचा हमारे ज्ञान में रहता है और ज्ञान का सम्बन्ध द्युलोक से है। इस प्रकार ये तीनों छन्द मिलकर पदार्थ के निर्माण में पूर्णप्रक्रिया को व्याख्यायित करते हैं।

## आभु का सर्वव्यापी भाव

नासदीयसूक्त में आने वाले आभु शब्द की चर्चा हमने की है। आभु शब्द में आ उपसर्गपूर्वक भू धातु है। नासदीयसूक्त का ऋषि आ उपसर्गपूर्वक भू धातु का प्रयोग इसी सूक्त में छठे और सातवें मन्त्र में भी करता है—“*अथा को वेद यत आबभूव*” एवम् “*इयं विसृष्टिर्यत आबभूव*”। उद्भवति, प्रभवति, सम्भवति, आविर्भवति आदि शब्दों का प्रयोग उत्पन्न होने के अर्थ में किया जाता है, किन्तु सृष्टि के उत्पन्न होने के प्रसङ्ग में इन सब शब्दों को छोड़कर ‘आभवति’ का प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग सृष्टि और स्रष्टा के एक विशेष सम्बन्ध को बताता है। ‘हिमालयात् गङ्गा प्रभवति’ जैसे वाक्यों में हिमालय से गङ्गा के उत्पन्न होने की बात कही जाती है, किन्तु हिमालय और गङ्गा का सम्बन्ध इस प्रकार का है कि गङ्गा हिमालय से उत्पन्न होकर अलग हो जाती है और हिमालय अलग रह जाता है। इसके विपरीत स्रष्टा सृष्टि का निर्माण करके स्वयं उसमें प्रविष्ट हो जाता है। इसलिये इस अन्तर को बताने के लिये वैदिक ऋषि ने किसी और उपसर्ग का उपयोग न करके आ उपसर्ग का प्रयोग किया है। मिट्टी से घड़ा बनने के सन्दर्भ में, यद्यपि मिट्टी घड़े में

ओतप्रोत रहती है, तथापि केवल मिट्टी ही घड़े को नहीं बनाती है, घड़े को बनाने के लिए कुम्हार की भी अपेक्षा है, जो घट से सर्वथा पृथक् है। सृष्टि के निर्माण में स्रष्टा ही उपादानकारण है और स्रष्टा ही निमित्तकारण है। जैसे मकड़ी अपने जाले को बुनने के लिये स्वयं ही निमित्त होती है और जाले का उपादान तन्तु भी अपने में से ही उत्पन्न करती है—*यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च*। इस प्रकार के सम्बन्ध को बताने के लिए ऋषि ने आ उपसर्ग का प्रयोग न केवल 'आबभूव' में किया अपितु 'आजाता' क्रिया में भी किया। आ का अर्थ है सर्वतोभावेन। अर्थात् स्रष्टा सृष्टि का सर्वतोभावेन कारण है। सृष्टि में किसी कारणान्तर की अपेक्षा नहीं है।

### पुरुष की त्रिविधता

हमने इस अध्याय के प्रारम्भ में तीन प्रश्न उठाये थे—

- (१) इस सृष्टि का अधिष्ठान क्या है ?
- (२) निमित्तकारण क्या है ?
- (३) उपादानकारण क्या है ?

इन प्रश्नों के उत्तर में थोड़ा और विचार करें तो अव्ययपुरुष जगत् का अधिष्ठान है, अक्षरपुरुष निमित्तकारण तथा क्षरपुरुष उपादानकारण है। इन तीनों पुरुषों का उल्लेख गीता में इन शब्दों में है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।  
 क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥  
 उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।  
 यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

(गीता १५.१६-१७)

इनमें भी प्रत्येक पुरुष की पाँच-पाँच कलायें हैं। इस प्रकार परात्पर सहित इन तीनों पुरुषों की पन्द्रह कलायें मिलकर षोडशकल पुरुष कहलाती हैं जिसका उल्लेख कौषीतकि ब्राह्मण में है। प्रस्तुत अधिकरण में हम निर्विशेष सहित षोडशकल पुरुष के स्वरूपविवेचन के माध्यम से ही ब्रह्म का निरूपण करेंगे।

### पुरुषशब्द की व्युत्पत्ति

वेद जिसे 'तत्' पद के द्वारा कहता है, वह निर्विकारतत्त्व जब अपने में ही अविनाभाव-सम्बन्ध से रहने वाली शक्ति से उस शक्ति के जागृत होने पर जुड़ता है तो वह पुरुष कहलाता है, यद्यपि उस निर्विकारतत्त्व तथा उसमें रहने वाली स्वधाशक्ति का नित्यसम्बन्ध है, तथापि वह शक्ति जब उद्बुद्ध होती है तब उद्बुद्ध शक्ति से अवच्छिन्न उस तत्त्व को पुरुष कहते हैं। इस पुरुष के स्वरूप को जानने के लिये पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देना होगा। पुरुष शब्द की पाँच व्युत्पत्तियाँ सम्भव हैं—

- (१) पुरु धास्यति अर्थात् अनेक प्रकार से क्रिया करने वाला अथवा सर्वप्रथम गति करने वाला; पुरुष भाव में आने पर ही क्रिया होती है।
- (२) पुरा रुष्यति अर्थात् सर्वप्रथम निर्विकारभाव को विकृत करने वाला; निःसीम को सीमित करने वाला।
- (३) पूर्षु रुष्यते अर्थात् पुर में अथवा सीमाभाव में बद्ध होने वाला।
- (४) पुरा औषत् अर्थात् मन, प्राण, वाक् के पापांश को नष्ट करने वाला। अभिप्राय यह है कि मन, प्राण, वाक् में जो मृत्यु भाग है, पुरुष अपने रसभाव से उसे अभिभूत कर लेता है।
- (५) पुरे वसति। पुर अर्थात् शरीर रूपी जगत् में वास करने वाला।

माया बल सीमित होते हुए भी अमित परात्पर को उसी प्रकार सीमित कर लेता है जिस प्रकार मेघखण्ड छोटा होने पर भी विस्तृत सूर्य को आवृत्त कर लेता है। जिस प्रकार तरङ्गें समुद्र को अखण्ड होने पर भी खण्डवान् बना देती हैं उसी प्रकार बल रस को अखण्ड होते हुए भी सखण्ड बना देता है। परात्पर के तीन विवर्त अव्यय, अक्षर और क्षर हैं। ये तीनों ही पुरुष कहलाते हैं। परात्पर अवैकारिक है; अव्यय, अक्षर और क्षर वैकारिक हैं। अव्यय, अक्षर तथा क्षर को एक उदाहरण से मोटे तौर पर समझाया जा सकता है। हमने प्रकाश में आँखों से एक हाथी देखा। यहाँ प्रकाश अव्ययस्थानीय है, आँखें अक्षरस्थानीय हैं तथा हाथी क्षरस्थानीय है।

### पुरुष तथा प्रकृति

मायाबल से पुर की उत्पत्ति होते ही उसका हृदय अथवा केन्द्र उत्पन्न हो जाता है। इस हृदय में जब रस मुख्य तथा बल गौण होता है तो अक्षर का जन्म होता है, जिसका दूसरा नाम पराप्रकृति अथवा अव्यक्तप्रकृति भी है। इसी हृदय में बल मुख्य तथा रस गौण होने पर क्षर का जन्म होता है, जिसे अपराप्रकृति अथवा व्यक्तप्रकृति भी कहते हैं। पराप्रकृति चेतना कहलाती है और यह चिति अर्थात् सृष्टि करती है। चेतना चिति करती है, जबकि चित् वह तत्त्व है जिसकी चिति होती है। चिति से ही चित्य अर्थात् क्षर का निर्माण होता है। परात्पर मनःशून्य निष्काम था, सीमा बनते ही वह समनस्क सकाम हो गया, जिसकी कामना थी—*एकोऽहं बहु स्याम्* अर्थात् मैं एक हूँ तथा अनेक हो जाऊँ।

### त्रिविध संसर्ग से पुरुष-त्रैविध्य : स्वरूपसंसर्ग

अव्यय, अक्षर तथा क्षरपुरुष रस से बल के संसर्ग के आधार पर विभक्त होते हैं। यह संसर्ग द्विविध है—स्वरूपसंसर्ग तथा वृत्तिसंसर्ग। ये दोनों भी तीन-तीन प्रकार के हैं जिनके कारण पुरुष का त्रैविध्य बनता है। स्वरूपसंसर्ग के तीन भेद हैं—विभूति, योग तथा बन्ध। विभूतियोग से दो सम्बद्ध पदार्थों में एक असम्पृक्त रहने के कारण स्वतन्त्र तथा बलवान् रहता है, दूसरे सम्पृक्त होकर गौण हो जाते हैं। जैसे ईंट की मिट्टी को सूत्रात्मा वायु ने जोड़ा है। यहाँ वायु स्वतन्त्र है, किन्तु मिट्टी परतन्त्र। इसी प्रकार रस तथा बल में जब विभूतिसम्बन्ध होता है तो रस स्वतन्त्र रहता

है, अतः वह मुख्य रहता है; बल उसके अधीन हो जाता है। यह स्थिति अव्ययपुरुष की है। योग सम्बन्ध में दो सम्बद्ध पदार्थ समान बल वाले रहते हैं, क्योंकि कोई किसी के अधीन नहीं होता, यथा पक्षी की गति तथा पक्षी के पंखों की गति का सम्बन्ध। यहाँ पक्षी की गति भिन्न दिशा में तथा उसके पंखों की गति भिन्न दिशा में है। रस तथा बल का ऐसा ही सम्बन्ध होने पर अक्षरपुरुष बनता है, क्योंकि उसमें दोनों समान-बल होते हैं। बन्धसम्बन्ध में एक दूसरे को अभिभूत कर लेता है; यथा फेन में पानी वायु को अपने में बाँध लेता है। इसी प्रकार जब बल रस को अभिभूत कर लेता है तब क्षरपुरुष बनता है।

## वृत्तिसंसर्ग

पुरुषत्रैविध्य को वृत्तिसंसर्ग की त्रिविधिता से भी समझा जा सकता है। वृत्तिसंसर्ग उदार, समवाय तथा आसक्ति रूप होते हैं। उदारसंसर्ग में आधार आधेय से निर्लिप्त रहता है; यथा आकाश वायु से। अव्ययपुरुष जगत् से इसी प्रकार निर्लिप्त रहता है। समवायसम्बन्ध में आधार-आधेय में अयुतसिद्धता रहती है, यथा गुण-गुणी में। अक्षरपुरुष में जगत् इसी आधार-आधेयसम्बन्ध से रहता है। आसक्ति में आधार को आधेय अभिभूत कर लेता है; जैसे लेप पाषाण को। क्षरपुरुष इसी तरह जगत् को अभिभूत किए है।

## पुरुष, रस तथा बल

अव्यय में रस प्रधान है, अक्षर में रस और बल दोनों की समान प्रधानता है और क्षरपुरुष में बल प्रधान है। अव्ययपुरुष के मन, प्राण और वाक् से क्रमशः ज्ञान, भक्ति और कर्म का सम्बन्ध है। अव्यय आलम्बन है; वह न कर्ता है और न भोक्ता। अक्षर निमित्त कारण है; यह कर्ता है, भोक्ता नहीं। क्षर उपादानकारण है; यह कर्ता भी है और भोक्ता भी।

अव्यय पर है, अक्षर परावर तथा क्षर अवर। अव्यय आधार है, अक्षर कारण है, क्षर कार्य है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।

एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

(कठोपनिषद् १.२.७)

अव्यय अक्षर और क्षर में क्रमशः रस की मात्रा न्यून होती जाती है। अव्यय की आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् ये पाँच कलाएँ हैं, जिनमें मोक्ष की जनक दो कलाएँ हैं—विज्ञान और आनन्द। मन जब प्राण और वाक् की ओर उन्मुख होता है तो सृष्टि होती है, जब विज्ञान और आनन्द की ओर उन्मुख होता है तो मुक्ति होती है।

अव्यय रूप मन में चिति के कारण ग्रन्थिबन्ध होता है। चिति दो प्रकार की है—विद्या के बल पर अन्तश्चिति होती है और अविद्या के बल पर बहिश्चिति।

बहिश्चिति से प्राण और वाक् की प्रधानता होने से सांसारिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, अन्तश्चिति से विज्ञान और आनन्द की प्रधानता होने से मुक्ति होती है। इस प्रकार मन ही मोक्ष और बन्धन

का कारण है—

न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप ।  
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥

(ब्रह्मविन्दु उपनिषद् १.२)

बन्धन प्रजापति का मर्त्यभाग है, मुक्ति अमृतभाग है—

तस्य ह प्रजापतेः । अर्धमेव मर्त्यमासीदर्धममृतम् ।

(शतपथ ब्राह्मण १०.१.३.२)

अपिच—अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन । (गीता ९.१९)

बहिश्चिति और अन्तश्चिति को क्रमशः बलचिति और रसचिति भी कहते हैं। बहिश्चिति के दो भेद हैं—प्राणचिति और वाक्चिति। अन्तश्चिति के दो भेद हैं—विज्ञानचिति और आनन्दचिति। विज्ञानचिति की अवस्था में बलग्रन्थि खुलने लगती है। आनन्दचिति में बल का अभाव हो जाता है और विशुद्ध रस रह जाता है।

### त्रिपुरुष एवं कारण-कार्य-भाव

क्षरपुरुष कार्य है, अक्षर कारण है। अव्यय न कारण है, न कार्य। सुख-दुःख का स्पर्श अक्षर और क्षर को ही होता है, अव्ययपुरुष को नहीं—

न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।  
(छान्दोग्योपनिषद् ८.१२.१) ।

तीन पुरुषों में अव्यय कार्यकारणातीत है, अक्षर निमित्त है और क्षर समवायी कारण है।

### बलों का ग्रन्थिबन्धन

क्षर प्रत्यक्ष है, उसमें अक्षर है और अक्षर में अव्यय। एक बल का दूसरे बल में समाहित हो जाना ग्रन्थिबन्ध का कारण होता है। एक ग्रन्थिबन्ध पर दूसरा बल आ जाने पर और ग्रन्थिबन्ध बँधता है। इस प्रकार अनेक बलों के मिलने से हृद्ग्रन्थि बनती है। ग्रन्थी बन्धन है—ग्रन्थी का खुलना प्रतिसञ्चर है। बन्धन से सृष्टि होती है और प्रतिसञ्चर से निवृत्ति। अन्त में बल रस में ही लीन हो जाता है।

### काम, तप और श्रम

अव्यय, अक्षर तथा क्षर से मन, प्राण तथा अर्थ का विकास होता है जो क्रमशः प्रज्ञानात्मा, प्राणात्मा तथा भूतात्मा है।

इनमें प्रज्ञानात्मा की मुख्यता से बहिःसंज्ञ, प्राणात्मा की मुख्यता से अन्तःसंज्ञ तथा भूतात्मा की मुख्यता से असंज्ञ-सृष्टि होती है। अव्ययपुरुष भाव-सृष्टि के प्रवर्तक हैं, अक्षरपुरुष गुण सृष्टि के और आत्मक्षरपुरुष विकार सृष्टि के। भाव-सृष्टि पुरुष है गुण तथा विकार-सृष्टि प्रकृति-सृष्टि

है। इन तीनों में काम, तप और श्रम का अनुबन्ध है। काम सिसुक्षा है, प्राण की क्षुब्ध-अवस्था तप है। जब प्राण का व्यय होता है तो वस्तु का निर्माण होता है। यदि तप के बिना भोग आ भी जाये तो उसका आत्मा के साथ अन्तर्यामसम्बन्ध नहीं होगा और वह आनन्द का कारण नहीं बनेगा। यह तप ही परिश्रम कहलाता है क्योंकि यह चारों ओर व्याप्त रहता है। ये आभ्यन्तरव्यापार हैं। वाक् का प्रयत्न श्रम कहलाता है। सभी कर्म काम, तप और श्रम से होते हैं। श्रम बिना तप के और तप बिना कामना के नहीं होता। अव्यय मन, अव्यय प्राण और अव्यय वाक् के काम, तप और श्रम के बिना संसार का कोई पदार्थ नहीं है।

### बलों के चयन से त्रिपुरुष

जहां बल रस को परिच्छिन्न तो करता है, किन्तु जहां बलों का चयन नहीं होता है, वह अव्ययपुरुष है। जहां बलों पर बलों का चयन होता है वह अक्षरपुरुष है और बलों के निरन्तर चयन से ग्रन्थी पड़ जाने पर वह क्षरपुरुष कहलाता है। जब तक परिच्छेद नहीं होता तब तक भेद नहीं है, वह परात्पर है। अव्ययपुरुष में भेद उत्पन्न हो गया, वह ईश्वर है। उसमें जो छोटे-छोटे परिच्छेद हुए, वह जीव है। अक्षर या क्षरपुरुष अव्ययपुरुष की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकते क्योंकि अव्ययपुरुष सबसे बड़ा परिच्छेद है। जीव या वस्तु के अव्यय का परिमाण ही उसके अक्षरपुरुष का परिमाण निश्चित करता है।

### प्रजापति

ब्रह्म को ही प्रजापति भी कहा जाता है। शतपथब्राह्मण कहता है कि प्रजापति ने सब कुछ बनाया—*सर्वमसृजत यदिदं किञ्च (शतपथ ब्राह्मण ६.१.२.११)*। इसलिए ब्रह्म सबकी प्रतिष्ठा है—*ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा (शतपथ ब्राह्मण ६.१.१.८)*। सभी प्राणी प्रजापति हैं—*यद्वै किञ्च प्राणि स प्रजापतिः (शतपथ ब्राह्मण ११.१.६.१७)*। सृष्टि को बनाकर ब्रह्म उसमें प्रविष्ट हो जाता है—*तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् (तैत्तिरीयोपनिषद् २.६.१)*।

प्रजापति की तीन धातुएँ हैं—मन, प्राण तथा वाक्। इन तीन धातुओं में से मन एक से अनेक होने की कामना करता है। प्रजापति तप करता है इसलिए प्राण भी प्रजापति है—*तपसा वै प्रजापतिः प्रजा असृजत् (काठकसंहिता ६-७)*, *तस्मादु प्रजापतिः प्राणः (शतपथ ब्राह्मण ७.५.१.२१)*। प्रजापति से वाक् गर्भवती होती है तथा वाक् से ही प्रजा उत्पन्न होती है—*वाग् द्वितीया आसीत् सा गर्भमधत्। सेमाः प्रजारसृजत् (काठक संहिता १२-५)*।

प्रजा उत्पन्न करने के कारण प्रजापति को यज्ञ भी कहा गया है—*प्रजापतिर्यज्ञः (काठक संहिता ११.४)*। प्रजापति जिस प्रकार प्रजा को उत्पन्न करता है उसी प्रकार प्रजा का पालन भी करता है। *प्रजापतिर्वै भुवनस्य पतिः (तैत्तिरीय संहिता ३, ४, ८, ६)*। सभी देव प्रजापति के अनुवर्ती हैं—*प्रजापतिम् वा अनु सर्वे देवा (शतपथ ब्राह्मण १३.५.३.३)*। इसलिए प्रजापति का तादात्म्य अग्नि (तैत्तिरीय संहिता १.१.५.५), आदित्य (जैमिनीयब्राह्मण २.३.७०), विष्णु तैत्तिरीयारण्यक १०.३.१.१) रुद्र, ब्रह्मा, वाक् (तैत्तिरीय ब्राह्मण १.३.४.५), सोम (शतपथ ब्राह्मण ५.३.७) तथा सविता

(जैमिनीय ब्राह्मण २.३.७०) इत्यादि देवताओं के साथ बताया गया है। शतपथब्राह्मण में काल को प्रजापति के रूप में प्रस्तुत करते हुए बारह मास तथा पाँच ऋतुओं को मिलाकर सप्तदशप्रजापति की बात की गयी है—*द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य पञ्चर्तवः एष एव प्रजापतिः सप्तदश (शतपथ ब्राह्मण १.३.५.१०) ।*

प्रजापति को सर्जन का देवता माना गया है, इसलिए जिन भी देवताओं का सर्जन में योगदान है उन सभी को प्रजापति कह दिया गया है—*अग्निः प्रजापतिः (तैत्तिरीय संहिता १-२.२.२७) , इन्द्र उ वै प्रजापतिः (शांखायन आरण्यक १.१) , असौ वा आदित्य इन्द्र एष प्रजापतिः (तैत्तिरीय संहिता ५.७.१.२) ।* इस प्रकार प्रजापति की अवधारणा में हमें बहुदेववाद में एकदेववाद के दर्शन होते हैं। प्रजापति की इसी महिमा को देखते हुए तैत्तिरीयसंहिता में कहा गया है कि अन्य सब देवता भले ही बासी हो जायें, किन्तु प्रजापति कभी बासी नहीं होता है—*सर्वा वा अन्या देवता यातयाम्नीः । प्रजापतिरेवायातयामा (तैत्तिरीयसंहिता १.१७.११.२) ।*

### अव्ययपुरुष की कलायें तथा आत्मा

अव्यय पुरुष की पाँच कलायें हैं—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक्। अव्ययपुरुष के मन और प्राण अतिसूक्ष्म हैं, इसलिये उन्हें श्वोवसीयस्मन तथा मुख्यप्राण कहा जाता है। वाक् भूतों की जननी है। संसार के आनन्द, विज्ञान, मन तथा प्राण अव्ययपुरुष की कलाओं का ही अंश है। इन्हीं पाँच कलाओं पर अक्षरपुरुष और क्षरपुरुष अवलम्बित हैं। क्षरपुरुष वाक् पर अवलम्बित है तथा अक्षर प्राण पर। अक्षरपुरुष में भी प्रज्ञानात्मा प्राण पर, भूतात्मा वाक् पर तथा शान्तात्मा, महानात्मा और विज्ञानात्मा विज्ञान पर टिके हैं। भूतात्माओं में शरीरात्मा वाक् का, हंसात्मा प्राण का तथा कर्मात्मा मन का आश्रय लेता है। कर्मात्माओं में भी वैश्वानर वाक् का, तैजस प्राण का और प्राज्ञ मन का आश्रय होता है।

### पञ्चकोशों में रस-बल

आनन्द में बल प्रसुप्त है, रस उससे अवच्छिन्न है। विज्ञान में बल प्रबुद्ध है, रस उससे अवच्छिन्न है। मन में रस और बल की समान अवस्था है। प्राण में रस किञ्चित् प्रबुद्ध है, बल उससे अवच्छिन्न है। वाक् में रस प्रसुप्त है, बल उससे अवच्छिन्न है।

### अव्यय की दो कलायें

अव्यय की दो कलायें मुख्य हैं—विद्या और अविद्या। विद्या ज्ञान है, अविद्या कर्म है। ज्ञान कर्मरूप विषयों को जानता है। कर्म वासनाओं को जागृत करता है। कर्म मर्त्य है, ज्ञान अमृत है। विकल्प से अव्यय की तीन कलायें हैं—ज्ञान, इच्छा और आवरण। ज्ञान से ज्ञानात्मा, आवरण से कर्मात्मा तथा इच्छा से कामात्मा जुड़ी है। मन की अन्तश्चिति ज्ञान है, बहिश्चिति कर्म है। विशुद्ध ज्ञान आनन्द है। कर्ममिश्रित ज्ञानविज्ञान है। क्षुब्धकर्म प्राण है, मूर्च्छितकर्म वाक् है। इस प्रकार मन प्रवृत्ति की ओर जाते हुए बहिश्चिति करता है तो कर्मात्मा क्षुब्धकर्म से प्राण और मूर्च्छितकर्म से वाक् को जन्म देता है। यदि मन निवृत्ति के माध्यम से अन्तश्चिति बनाता है तो ज्ञानात्मा शुद्ध



ज्ञान से आनन्द और कर्ममिश्रितज्ञान से विज्ञान को जन्म देता है।

काम के कारण परिमित हुआ मन पुरुष कहलाता है। अव्यय की तीन धातुएं हैं—विद्या, काम और कर्म। सृष्टिसाक्षी अव्यय कर्म है, मुक्तिसाक्षिणी विद्या है। काम दोनों का साक्षी है। प्राण से युक्त विज्ञान विद्या है। उससे आनन्द की सिद्धि होती है। विज्ञानयुक्तप्राण कर्म है उससे वाक् की सिद्धि होती है। मन सबके केन्द्र में है।

### मन प्राण वाक् की विश्व-व्यापकता

मन, प्राण और वाक् सृष्टिसाक्षी हैं। इसलिये ये तीनों सृष्टि के पाँच पर्वों में रहते हैं। सृष्टि पञ्चपर्वा है। उनमें से प्रत्येक पर्व के मन, प्राण और वाक् तीन-तीन मनोता हैं। छान्दोग्योपनिषद् कहता है कि जो इन तीन को पाँच रूपों में बँटा हुआ जानता है वह सब कुछ जान लेता है, क्योंकि इससे अधिक बड़ा और कुछ भी नहीं है—

यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि

तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।

यस्तद्वेद स वेद सर्वं

सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥ (छान्दोग्योपनिषद् २/२१/३)

सृष्टि के पाँच पर्व हैं—स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा और पृथिवी। इनमें स्वयम्भू के तीन मनोता हैं—वेद, सूत्र और नियति। ये ही क्रमशः वाक्, प्राण और मन हैं। परमेष्ठी के मनोता हैं—इला, ऊर्क और भोग, जो कि उसके क्रमशः वाक्, प्राण और मन है। सूर्य के तीन मनोता हैं—ज्योति, गौ और आयु; जो कि उसके क्रमशः वाक्, प्राण और मन हैं। चन्द्रमा के मनोता हैं—रेतस्, यशस् और श्रद्धा, जो क्रमशः चन्द्रमा के वाक्, प्राण और मन हैं तथा वाक्, प्राण और गौ पृथिवी के क्रमशः वाक्, प्राण और मन हैं। इस प्रकार वाक्, प्राण और मन सृष्टि के पाँचों पर्वों में व्याप्त हैं।

मन, प्राण तथा वाक् की विश्वव्यापकता को निम्न तालिका से समझा जा सकता है—

मन, प्राण, वाक्	वाक्	प्राण	मन
विश्व			
स्वयम्भू	वेद	सूत्र	नियति
परमेष्ठी	इला	ऊर्क	भोग
सूर्य	ज्योतिः	गौः	आयुः
चन्द्रमा	रेतस्	यशस्	श्रद्धा
पृथ्वी	वाक्	प्राण	गौः

## माया, बल तथा भगवान्

जो बल अपरिच्छिन्न रस को परिच्छिन्न कर देता है, वह बल माया है। परिच्छिन्न होने पर पदार्थ का रूप पृथक् हो जाता है, जिसे वेद में छन्द कहा जाता है। पृथक् पदार्थ का नाम भी पृथक् हो जाता है। माया के कारण रस में ऐश्वर्य, धर्म, यश, ज्ञान, वैराग्य और श्री—इन ६ भागों का प्रादुर्भाव होता है। इन्हीं भागों से युक्त की भगवान् संज्ञा होती है।

## मन, प्राण तथा वाक् का महत्त्व

अव्ययपुरुष की पाँच कलाओं में मन, प्राण और वाक् का विशेष महत्त्व है, क्योंकि ये तीनों ही सृष्टि के कारण हैं। इसलिये इन तीन के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से चर्चा करना उपयोगी होगी।

## मन, प्राण तथा वाक् के छः आधार

मन, प्राण और वाक् से क्रमशः ज्ञान, क्रिया और अर्थ उत्पन्न होते हैं। ये तीनों ही संसार के पदार्थों को बनाते हैं। ये नाम, रूप और कर्म के रूप में सर्वव्यापक हैं। इन तीनों का प्रथम अधिकार अन्न, अन्नद और आवपन है। अन्न भोग्य है, अन्नद भोक्ता है और आवपन भोग का स्थल है। दूसरा अधिकार अभिमानी, अधिष्ठाता और अधिष्ठान है। उदाहरणतः गङ्गा में जल अधिष्ठान है, प्रवाह अधिष्ठाता है और गङ्गा उसका अभिमानी देवता है। तीसरा अधिकार ब्रह्म है। वाक् का ब्रह्म प्राण है, प्राण का ब्रह्म मन है। चौथा आधार दिव्य है—मन ब्रह्म है, प्राण क्षत्र है, विट् वाक् है। इन्हीं से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की उत्पत्ति होती है। पाँचवाँ अधिकार है—अग्नि, सोम और आपः। मन से सोम, प्राण से अग्नि और वाक् से आपः की उत्पत्ति होती है। सोमरस से चन्द्रमा की, अग्नि से सूर्य की और आपः से प्रत्येक पिण्ड की रचना हुई। छठा अधिकार काम, तप और श्रम है। मन की वृत्ति काम, प्राण की वृत्ति क्रिया, और वाक् की वृत्ति श्रम है। प्राण के अन्तर्व्यापार को तप कहते हैं। उससे जो बाह्यक्रिया होती है, वह श्रम कहलाती है। काम, तप और श्रम सभी पदार्थों में रहते हैं। इनके बिना कोई पदार्थ नहीं बन सकता है।

## मन, प्राण तथा वाक् का अन्तःसम्बन्ध

ज्ञान, क्रिया और अर्थ में से ज्ञान और क्रिया अपरिच्छिन्न है। परिच्छिन्नता केवल अर्थ में रहती है। मन और प्राण के योग से ही वाक् सफल होती है। जिस वाक् में मनोयोग नहीं है और प्राणवत्ता नहीं है, उसमें किसी की भी श्रद्धा नहीं रहती। ज्ञान के बिना क्रिया निरर्थक है। मन में अन्तर्जल्प चलता है। वह वाक् का भाग है। इस प्रकार इन तीनों का परस्पर गहरा सम्बन्ध है।

मन से वेद, प्राण से यज्ञ और वाक् से प्रजा उत्पन्न होती है। प्राण और वाक् मिलकर मन की सहायता करते हैं तो वेदसृष्टि होती है, मन और वाक् मिलकर प्राण की सहायता करते हैं तो यज्ञ की सृष्टि होती है, प्राण और मन मिलकर वाक् को सञ्चालित करते हैं तो लोक की सृष्टि होती है।

## त्रिगुण

वाक्, प्राण और मन त्रिसत्य कहलाते हैं। वाक् सत् है, प्राण असत् है और मन सदसत्। सत् का अर्थ देशकालावच्छिन्न है। प्राण का अनुमान होता है, वह स्वयं दिखाई नहीं देता, इसलिए असत् है। मन स्वयं को जानता है, किन्तु दूसरे के मन को नहीं, इसलिए उसे सदसत् कहते हैं।

## ज्योति, विधृति तथा प्रतिष्ठा

मन, प्राण और वाक् ज्योति, विधृति और प्रतिष्ठा के रूप में जगत् में व्याप्त है। ज्योति के तीन रूप हैं—आन्तरप्रकाश अर्थात् ज्ञान, बाह्यप्रकाश अर्थात् सूर्य और वस्तु के विकास का कारण। ज्ञान का सम्बन्ध अक्षरपुरुष के मन से है। भौतिकप्रकाश का सम्बन्ध क्षरपुरुष के मन से है। विकास के तीन रूप हैं—कालविकास, मात्राविकास और संस्थाविकास। संस्थाविकास में तीन का समावेश होता है—जीव, जिसे अहम् कहा जाता है, ईश्वर, जिसे अहः कहा जाता है और परमेश्वर, जिसे ओम् कहा जाता है।

विधृति के तीन भेद हैं—पदार्थ का मण्डल, प्रथम विधृति है, जिसे भर्गः कहा जाता है। जहां तक पदार्थ का उत्कृष्ट प्रभाव है वहां तक महः है, जहां तक पदार्थ का सूक्ष्म प्रभाव जाता है वहां तक यशः है। विधृति आनन्द रूप है। मन और बुद्धि का चञ्चल होना दुःख है, उनका स्थिर हो जाना शान्तानन्द है, प्रतिष्ठा सत्ता है। प्रतिष्ठा का आनन्द भूमारूप है। ऋग्वेद प्रतिष्ठा है, वह सत्य है। सामवेद ज्योति है, वह चेतना है। यजुर्वेद आत्मवेद है, वह आनन्द है।

प्रतिष्ठा का अर्थ है—स्थिरता। प्रतिष्ठा भी तीन प्रकार की है—आत्मधृति, असतोधृति और सतोधृति। इनमें आत्मधृति ही स्वःप्रतिष्ठा है। शेष दोनों प्रतिष्ठाएं उसी पर टिकी हैं। पदार्थ का स्वरूप स्वःप्रतिष्ठा से ही बनता है। पदार्थ का उपादानकारण ही वास्तविक सत्ता है। स्वयं पदार्थ तो असतोधृति है। इसी बात को उपनिषद् में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि मृत्तिका ही सत्य है, नाम तो वाणी के विकार मात्र हैं।

## सृष्टि में मन का योगदान

जब तक सीमा न हो केन्द्र नहीं बनता, केन्द्र के बिना कामना नहीं, कामना के बिना क्षोभ नहीं, क्षोभ के बिना विकार नहीं और विकार के बिना सृष्टि नहीं।

मन जब सृष्टि के लिए उन्मुख होता है तो उसमें प्राण और वाक् उत्पन्न होते हैं। प्राण क्रियारूप है, जो स्थूलता में बद्ध होकर वाक् में परिणत हो जाता है। विज्ञान और आनन्द विद्या हैं, प्राण और वाक् अविद्या हैं। प्राण का आधार अक्षरपुरुष है और वाक् का आधार क्षरपुरुष बनता है। अक्षर निमित्त है, क्षर उपादान है। अव्ययपुरुष कारणातीत है।

मन इच्छा करता है, प्राण तप तथा वाक् श्रम। मन का विकम्पित रूप काम है, प्राण का विकम्पित रूप तप है तथा वाक् का विकम्पित रूप श्रम है। इन तीनों से ही सृष्टि बनती है—*सोऽकामयत । स तपोऽतप्यत । सोऽश्राम्यत् (शतपथ ब्राह्मण १४.४.३.१०)* । मन की

वासनायुक्त इच्छा बन्धन का कारण है। ईश्वर के मन में कोई वासना नहीं होती अतः वहां बन्धन नहीं होता। जितनी इच्छा है, उतना ही प्राण और उतनी ही वाक्। प्रसार मन की पूर्णता है। मन परात्पर जैसा पूर्ण होना चाहता है, किन्तु प्राण के बलवान् न होने से वैसा नहीं कर पाता, इसलिए अपूर्ण रहता है। प्राण और वाक् का एक रूप मन से अन्तर्यामिसम्बन्ध से जुड़ा है—अशनाया से उठने वाला प्राण और अशिति रूप में प्राप्त होने वाला वाक् उस प्राण और वाक् से भिन्न है, इसलिए अपूर्णता का अनुभव होता है। अपूर्ण मन चंचल होता है। वह प्राणों को प्रेरित करता है। यही काम का स्वरूप है। प्राण का इच्छित पदार्थ को छोड़ना तपस्या है। तप से ही सृष्टि होती है। अपना जो अंश दूसरे को दिया जाता है, वह तप है। इसके द्वारा कामनाओं की प्राप्ति होती है। ब्राह्मण का तप ज्ञान है। क्षत्रिय का तप रक्षा है। यज्ञ, तप और दान तीनों तप ही हैं। मानवभाव को दैवभाव को अर्पण कर देना यज्ञ है। तप में विराट् का अंश दूसरे को दिया जाता है। दान में मन को चारों ओर से काट दिया जाता है।

क्योंकि यह अव्ययपुरुष ससीम है इसलिए इसका केन्द्र भी है। अव्ययपुरुष का यह केन्द्र ही मन कहलाता है, क्योंकि यह मन अस्मदादि के मन से भिन्न है। इसलिए इसे अलग नाम दिया गया—श्वोवसीयस् मन। श्वोवसीयस् मन के दो अर्थ हैं—१. जो श्वः अर्थात् कालभाव से अवसीयस् अर्थात् असङ्ग है और जो श्वः = सदा, वसीयस् = वर्धमान है। मन का धर्म है—कामना। अव्ययपुरुष के इस मन में कामना उत्पन्न हुई, किन्तु यह कामना उसके मन का सहज धर्म है। इसके पीछे किसी प्रकार का राग-द्वेष जैसा भाव नहीं है। यह कामना थी एक से अनेक हो जाने की कामना। इस कामना के कारण अव्ययपुरुष की मन के अतिरिक्त चार कलाएं और उत्पन्न हो गईं। विज्ञान और आनन्द की कला रसभाव की अधिकता से पैदा हुई। प्राण तथा वाक् की कला बलभाव की अधिकता से पैदा हुई।

मन के सम्बन्ध में ब्राह्मणग्रन्थों में बहुत विस्तृत विचार हुआ है। इस विचार की भी एक संक्षिप्त झलक देख लेनी चाहिये।

### ब्राह्मण ग्रन्थों में मन

वाक् का सम्बन्ध ऋग्वेद से है—*वागेवर्गेदः (शतपथ ब्राह्मण १४.४.३.१२)*। प्राण का सम्बन्ध सामवेद से है—*प्राणः सामवेदः (शतपथ ब्राह्मण १४.४.३.१२)* तो मन का सम्बन्ध यजुर्वेद से है—*अथ यन्मनो यजुष्टत् (जैमिनीयोपनिषद् १.८.१.१९)*। मन ही यजुः है—*मन एव यजुः (शतपथ ब्राह्मण ४.६.७.५)*। मन के यजुः से सम्बन्ध होने का अर्थ है कि यजुः का सम्बन्ध भी गति से है—*सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१२.९.१)* तथा मन भी गतिशील है—*यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ (काठक संकलन १३४/७.८)* वस्तुतः मन से अधिक गतिशील कुछ भी नहीं—*मनो भुवनेषु जविष्ठम् (जैमिनीय ब्राह्मण १.२०)*। मन का सम्बन्ध यजुर्वेद से है और यजुर्वेद का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है इसलिए मन का सम्बन्ध अन्तरिक्षलोक और अन्तरिक्ष के देवता चन्द्रमा से भी है—*मनोऽन्तरिक्षलोकः (शतपथ १४.४.३.११)* तथा *मनश्च चन्द्रमाः*

(जैमिनीयोपनिषद् ३.१.२.६) । अन्तरिक्ष के देवता इन्द्र से भी इसी नाते मन से सम्बन्ध है—यन्मनः स इन्द्रः (गोपथ ब्राह्मण २.४.११) । ब्राह्मणग्रन्थ तथा आरण्यक एवं उपनिषदों में मन के अनेक नाम दिये हैं, जो मन के कार्यों के भी सूचक हैं । शतपथब्राह्मण कहता है काम, सङ्कल्प, जिज्ञासा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि और भय ये सब मन ही हैं—कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति हीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव (शतपथ ब्राह्मण १४.४.३.९) । भाव यह है कि अन्तर्जात का समस्त कर्म मन का कर्म है । ऐतरेयारण्यक मन के अनेक पर्यायवाची देता है—यदेतद्भृदयं मनश्चैतत्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति (ऐतरेय आरण्यक २.६) । शतपथब्राह्मण ने ऋग्वेद के नासदासीनोसदासीतदानीम् (ऋग्वेद १०.१२९.१) की व्याख्या करते हुए कहा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में मन था और मन न सत् है, न असत्—नैव वाऽइदमग्रेऽसदासीनैव सदासीत् । आसीदिव वाऽइदमग्रे नैवासीत्तद् तन्मन एवास । तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । नासदासीनो सदासीत्तदानीमिति नैव हि सन्मनो नैवासत् (शतपथ ब्राह्मण १०.५.३.१-२) । जो कुछ प्राप्त नहीं है वह मन से ही प्राप्त किया जाता है—मनसा ह्यनाप्तमाप्यते (तैत्तिरीय संहिता २.५.११.४) । मन के वश में यह सब कुछ है—मनसो वशो सर्वमिदं बभूव (तैत्तिरीय संहिता ३.१२.३.३) ।

यजुर्वेद में मन की महिमा अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में दी गई है । ऋक्, साम और यजुः मन में इस प्रकार प्रतिष्ठित बताये गए हैं जिस प्रकार रथ की नाभि में अरे प्रतिष्ठित होते हैं । जिस प्रकार सारथी घोड़ों को ले जाता है उसी प्रकार मन मनुष्यों को ले जाता है—

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाः ।  
यस्मिश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥  
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्योन्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।  
हत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

(यजुर्वेद ३४/५-६)

मन का वाक् से गहरा सम्बन्ध है । मन और वाक् दो धुर हैं । मन से वाक् उत्पन्न होती है, मन से ही वाक् सञ्चालित होती है—अथ द्वे एव धुरौ मनश्चैव वाक् च । मनसो हि वाक् प्रजायते सा मनोनेत्रा वाग्भवति (जैमिनीय ब्राह्मण १.३२०) । मन अपरिमित है, वाक् परिमित है—अपरिमिततरं हि मनः परिमितरेव हि वाक् (शतपथ ब्राह्मण १.४.४.७) । मन ही वाक् को धारण करता है—मनसा हि वाग् धृता (तैत्तिरीय संहिता ६.१.७.२) । पहले मन है, बाद में वाक्—मनो वै पूर्वमथ वाक् (जैमिनीय ब्राह्मण १.१२८) । मन वाक् की अपेक्षा तीव्र गति वाला है—मनो वै वाक्ः क्षेपीयः (काठक संहिता १९.३.१०) । वाक् और मन का दिव्यमिथुन है—वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम् । वाक् और मन का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि वाक् को ही मन कह दिया गया है—वागिति मनः (जैमिनीयोपनिषद् ४.११.१.११) । दोनों की तुलना करें तो वाक् मन से छोटी है—वाग्वै मनसो हसीयसी (शतपथ ब्राह्मण १.४.४.७) । वाक् मन की शक्ति है—मनसो रेतो वाक् (ऐतरेयारण्यक २.१.३) ।

जिस प्रकार मन का वाक् से सम्बन्ध है, प्राण से भी उसी प्रकार इतना गहरा सम्बन्ध है कि मन को प्राणों का अर्धभाग बताया है—*अर्धभाग वै मनः प्राणानाम् (षड्विंश ब्राह्मण १.५)* । मन ही प्राण में प्रतिष्ठित है—*मनः प्राणे प्रतिष्ठितम् (जैमिनीय ब्राह्मण ३.३७१)* । मन से ही प्राण धारण किया जाता है—*मनसा हि प्राणो धृतः (काठक संहिता २७.१)* ।

प्राण मन के पीछे चलते हैं—*मनो वा अनुप्राणाः (जैमिनीय ब्राह्मण १.१६)* । इसलिए मन प्राणों का अधिपति है—*मनो वै प्राणानामधिपतिः (शतपथ ब्राह्मण १४.३.२.३)* । वाक् पूर्वरूप है, मन उत्तररूप है । प्राण दोनों को जोड़ने वाला है—*वाक् पूर्वरूपं मन उत्तररूपं प्राणः संहिता (ऐतरेयारण्यक ३.१.१)* ।

मन को प्रजापति बताया गया है—*मनो हि प्रजापतिः (सामविधान ब्राह्मण १.१.१)* । मन प्रजापति का हिङ्कार है—*स मन एव हिङ्कारमकरोत्* । प्रजापति के पाँच शरीर मर्त्य हैं, पाँच अमृत । मन अमृत है—*तदेता वाऽअस्य ताः पञ्च मर्त्यास्तन्व आसन्—लोम त्वङ् मांसमस्थि मज्जा । अथैता अमृता-मनो वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रम् (शतपथ ब्राह्मण १०.१.३.४)* ।

मन दीक्षा है तो प्रजापति दीक्षित है—*प्रजापतिर्दीक्षितो मनो दीक्षा (जैमिनीय ब्राह्मण २.५.३.६.५)* । प्रजापति मन ही है—*प्रजापतिर्वै मनः (कौषीतकि ब्राह्मण १०.१.२६)* । प्रजापति ने मन से ही पृथिवी को घेरा—*मनसा वा इमां प्रजापतिः पर्यगृह्यात् (मैत्रायणी संहिता १.८.७)* । प्रजापति ने मन से ही यज्ञ का विस्तार किया—*मनसा वै प्रजापतिर्यज्ञमतनुत् (मैत्रायणी संहिता १.४.१०)* ।

मन को ब्रह्मा भी कहा गया है—*मन एव ब्रह्मा (कौषीतकि ब्राह्मण १७.७)* ।

मन निर्लेप है, क्योंकि कोई विषय इसके साथ स्थायी रूप से नहीं जुड़ता है । इसमें विषय आते-जाते रहते हैं । मन आकाश के समान असङ्ग रहता है । जिस प्रकार आकाश में सब पदार्थ रहते हैं, किन्तु आकाश किसी पदार्थ से जुड़ता नहीं है उसी प्रकार मन में सब विषय रहते हैं, किन्तु मन किसी से जुड़ता नहीं है । मन आकाश के समान निष्क्रिय भी है । पदार्थ उसमें आते हैं और चले जाते हैं, किन्तु वह उन पदार्थों की क्रिया के साथ स्वयं क्रिया नहीं करता । वस्तुतः क्रिया प्राण में होती है, किन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि वह मन में हो रही है ।

मन न छोटा है, न बड़ा । वह जिस विषय का चिन्तन करता है, उसी के आकार का हो जाता है । राई का चिन्तन करते समय वह राई के आकार का और विश्व का चिन्तन करते समय वह विश्व के आकार का हो जाता है ।

मन का एक गुण है काम । अपने से बड़ों के प्रति श्रद्धा का भाव, छोटों के प्रति वात्सल्य, बराबर वालों के प्रति स्नेह और जड़ पदार्थों के प्रति काम—ये मन के ही गुण हैं ।

वेद के अनुसार कोई पदार्थ जड़ नहीं है, इसलिये मन सर्वव्यापक है । मन ही विद्याबल से ज्ञान और अविद्याबल से कर्म बन जाता है । ज्ञान कर्म को प्रकट करता है । कर्म मर्त्य है । ज्ञान अमृत और मन इन दोनों का सन्धिस्थान है । सृष्टि के प्रारम्भ में मन की कामना ही प्रादुर्भूत होती

है। यही केन्द्रात्मक रस-बल-मूर्ति है। मन अन्न से बना है—*अन्नमयं हि सौम्य ! मनः*। अन्न की सात्त्विकता पर मन की सात्त्विकता निर्भर करती है। बलों की अधिकता से मन का स्थूल रूप बढ़ता है। अविद्या, अस्मिता, आसक्ति और अभिनिवेश—मन को स्वच्छन्द बनाते हैं। बुद्धि के चार धर्मों में से ज्ञान अविद्या का, ऐश्वर्य अस्मिता का, वैराग्य आसक्ति का और धर्म अभिनिवेश का नियन्त्रण करता है। काम मन का सहज धर्म है। वह प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में है, इसलिये जो मन को वश में कर लेता है, वह सारे संसार को वश में कर लेता है। काम के सम्बन्ध में वेद का कहना है कि वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, न उसे देव जान सकते हैं, न पितर, न गन्धर्व। वह अत्यन्त महान् है।

*कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः ।*

*ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महास्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥*

(अथर्ववेद ९/२/१९)

मन काम के द्वारा सब वस्तुओं को ग्रहण करता है। अंगुलि में क्रिया, मन के व्यापार द्वारा प्रेरित प्राण के व्यापार से होती है। जिस प्रकार जाति में जाति नहीं है, प्राण में प्राण नहीं है, उसी प्रकार मन में मन नहीं है। मन के बिना क्रिया संभव नहीं है और मन में मन नहीं है इसलिये स्वयं मन में कोई क्रिया नहीं होती। मन चेतना से जुड़कर चिदात्मा कहलाता है। यह सबका आलम्बन अव्यय है। इसकी व्युत्पत्ति होगी—जिसमें चयन होता है—चीयतेऽस्मिन्।

मन की दूसरी स्थिति अक्षर है। वहां मन का अर्थ होगा—जिसके द्वारा चयन होता है, चीयतेऽनेन। ये दोनों ही चिदात्मा हैं। विद्या के कारण मन को ज्ञानात्मा कहा जाता है। अविद्या से अवच्छिन्न मन को कर्मात्मा कहा जाता है। चिति का अर्थ है—कर्म में कर्म की चिति। इसे वासना कहते हैं। चिति का दूसरा अर्थ है—ज्ञान में ज्ञान की चिति। इसे भावना कहते हैं। भावना का ही दूसरा नाम संस्कार है। ज्ञान में स्नेह नहीं होता, इसलिये उसकी चिति नहीं हो सकती, किन्तु ज्ञान में भी सूक्ष्म रूप में कर्म रहता है। वही ज्ञान की चिति का कारण बन जाता है।

मन की तीन कलाएं मानी जाती हैं—ज्ञानात्मा शुद्ध ज्ञान है, कामात्मा शुद्ध काम है, कर्मात्मा शुद्ध कर्म है। मध्यस्थ का कामात्मा ज्ञान और कर्म दोनों से युक्त है। कर्म को ज्ञान का विरोधी होने के कारण अज्ञान कहा जाता है। गीता में कहा गया है कि ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ है, इसीलिये प्राणी मोहित होते हैं। इन तीनों में कर्म ही स्थान रोकता है, ज्ञान और काम स्थान नहीं रोकते। ज्ञान और कर्म एक दूसरे में ओतप्रोत हैं, किन्तु मुख्यता की अपेक्षा हम एक को ज्ञान तथा दूसरे को कर्म कह देते हैं।

सृष्टि का बीज अव्ययमन है। काम उसका प्रथम लक्षण है। मायाबल से असीमपरात्पर में सीमा बनने पर केन्द्र बनता है। केन्द्र के बिना मन नहीं हो सकता। मन के बिना कामना नहीं हो सकती और कामना के बिना कर्म नहीं हो सकता तथा कर्म के बिना सृष्टि नहीं हो सकती।

सृष्टि का कारण श्वेवसीयस्मन है। यह प्रतिदिन भूमारूप होने के कारण श्वेवसीयस्म कहलाता है। इस मन में जब एक से अनेक होने की इच्छा होती है, तो प्राण तप में संलग्न होता

है और वाणी श्रम करती है। मन से ज्ञान, प्राण से कर्म तथा वाणी से पदार्थ उत्पन्न होते हैं। ज्ञान, कर्म और अन्न ही विश्व हैं। हमारे ज्ञान में क्रियावान् पदार्थ प्रतिफलित होते हैं।

मन का दूसरा रूप सङ्कल्पविकल्पात्मक मन है। इसका निश्चित धर्म है। अतः यह इन्द्रिय है। मन का एक तीसरा रूप वह है, जो सभी इन्द्रियों के विषय में अनुकूलता-प्रतिकूलता का बोध कराता है। इसलिये उसे सर्वेन्द्रिय मन कहते हैं। सुषुप्ति में जब वह अपना कार्य बन्द कर देता है तो इन्द्रियों का व्यापार भी बन्द हो जाता है। इन्द्रियमन पार्थिवभास्वरसोम से बना है। सर्वेन्द्रियमन चान्द्रसोम से बनता है। वासनात्मक संस्कार सर्वेन्द्रियमन पर ही अङ्कित होते हैं।

एक चौथा मन सत्त्वमन है। सुषुप्ति में इन्द्रियमन के व्यापार रुक जाने पर भी रक्तसंचार, श्वास-प्रश्वस इस सत्त्वमन के कारण होता है। सर्वेन्द्रियमन की इच्छा जीव की इच्छा है, किन्तु सत्त्वमन, जिसे महत् भी कहते हैं, ईश्वरेच्छा से जुड़ा है। सर्वेन्द्रियमन चान्द्रसोम से जुड़ा है। सत्त्वमन पारमेष्ठ्यसोम से जुड़ा है। अव्ययमन महत्मन से भी अधिक सूक्ष्म है।

मन से जुड़ी आकाङ्क्षा दो प्रकार की हैं; अपने आप उत्पन्न की हुई आकाङ्क्षा उत्थित-आकाङ्क्षा कहलाती है, वासना की प्रेरणा से उठायी हुई इच्छा उत्थाप्य-आकाङ्क्षा कहलाती है। उत्थित आकाङ्क्षा सहज है। उसके सम्बन्ध में कब क्यों इत्यादि प्रश्न नहीं किये जा सकते। सृष्टि की उत्पत्ति का प्रश्न अव्यय से जुड़ा है। जो प्रकृति से परे है उसके सम्बन्ध में तर्क की गति नहीं है। वह ईश्वर की सहज इच्छा है। अव्यय के श्वोवसीयस् नामक मन में जो कामना सिसृक्षा के रूप में होती है उसके सम्बन्ध में प्रश्न नहीं किया जा सकता। वह सहज ही भोजन की इच्छा या सोने की इच्छा के समान है। ऐसी निष्कामभावना से किया गया कर्म स्वयं ही होता रहता है, किया नहीं जाता।

मन की इस कामना का स्वरूप है—एक के अनेक बनने की इच्छा। जैसे ही यह इच्छा उत्पन्न होती है, एक क्षोभ या एक क्रिया उत्पन्न हो जाती है। यह क्षोभ या क्रिया प्राण का व्यापार है। जैसे सृष्टि की कामना करने वाला मन हमारा व्यक्तिगत मन नहीं, अपितु अव्ययपुरुष का मन है। वैसे ये प्राण भी अव्ययपुरुष के प्राण हैं। हमारी कामना उस अव्ययमन की कामना का एक बहुत छोटा हिस्सा है। हमारा प्राण भी उस अव्ययपुरुष के प्राण का एक बहुत छोटा हिस्सा है। यह क्रिया सृष्टि को जन्म देती है। मन की कामना नितान्त अव्यक्त है, क्रिया व्यक्ताव्यक्त है, किन्तु उस क्रिया से उत्पन्न होने वाले पदार्थ व्यक्त हैं। इन व्यक्त पदार्थों का नाम वाक् है। इन्हें वाक् इसलिये कहा जाता है कि वाक् अर्थात् शब्द आकाश का गुण है और व्यक्तसृष्टि में जो पाँच भूत हमें उपलब्ध होते हैं उनमें सबसे पहला आकाश ही है। ये पञ्चभूत, प्राण और मन मिलकर वे सात तन्तु हैं, जिनसे सृष्टि का पट बुना गया है।

## प्राण

अव्ययपुरुष की दूसरी कला प्राण है। प्राण प्रतिक्षण क्रियाशील है। यह सब क्रियाओं का उपादान है। क्रिया से प्राण का क्षय होता है। इसलिये हम क्रिया करने पर थक जाते हैं।



प्राण में पञ्चभूतों का लक्षण नहीं है। वे आपस में टकराने पर शब्द नहीं करते। हमें उनके आघात का बोध नहीं होता। उनमें न रूप है, न गन्ध। वह पदार्थों को धारण अवश्य करते हैं। इसी शक्ति के द्वारा पानी से मिलकर मिट्टी ढेले का रूप धारण कर लेती है। यही 'विधरण-शक्ति' प्राण कहलाती है। प्राण भूत-मात्राओं के साथ ही रहता है अतः प्राण को अर्थवान् कहा जाता है। प्राण चार प्रकार का है—(१) परोरजा, इसके कारण सब पदार्थ अपने नियत रूप में रहते हैं। (२) आग्नेय, जो विशकलन करता है। (३) सोम्य, जो पदार्थों को घन बनाता है। (४) आप्य, जो पदार्थों को रूपान्तरित करता है; जैसे घास का दूध में रूपान्तरण।

मन असङ्ग है, किन्तु प्राण भूत के साथ चिपक जाता है, इसलिये प्राण व भूत अलग अलग नहीं रह सकते। यह प्राण मन को भी अपने से बाँध लेता है। इसलिये मन प्राणियों के शरीर से बाँधा रहता है और विषयों में इधर-उधर जाने के पर भी प्राण को छोड़कर नहीं जाता है। यद्यपि मन को बाँधा नहीं जा सकता, तथापि प्राण मन को बाँध लेता है। प्राण दीपक के प्रकाश की तरह थोड़े प्रदेश में रहकर अधिक प्रदेश में फैल सकता है।

प्राण मन की इच्छा से ही कोई काम करता है। यदि मन अपना व्यापार बन्द कर दे तो प्राण भी स्वयं कुछ नहीं करता। उदाहरणतः यदि हम किसी पदार्थ को पकड़ कर सो जायें तो वह पदार्थ हमारे हाथ से छूट जाता है, क्योंकि मन के काम बन्द कर देने पर प्राण भी अपना काम नहीं करता। सुषुप्ति में केवल सत्त्वमन अपना काम करता रहता है, इसीलिये श्वास—प्रश्वास अपने कार्यों को नहीं छोड़ते। वायु का चलना आदि कर्म भी ईश्वर के मन की प्रेरणा से होते हैं। जगत् का सारा परिवर्तन ईश्वर की इच्छा से हो रहा है। जब हममें सारे परिवर्तन हमारी इच्छा से होते हैं, तो यह भी मानना पड़ेगा कि जगत् में होने वाले परिवर्तन भी किसी की इच्छा से होते हैं। जिसकी इच्छा से जगत् के ये परिवर्तन होते हैं, वही ईश्वर है। मन भले ही सोता और जागता हो, प्राण कभी सोता नहीं। मन थक जाता है, प्राण नहीं थकता। मन की थकावट से ही हमें प्राण की थकावट प्रतीत होती है। इसी कारण मन में उत्साह होने के कारण जिनका मन नहीं थकता है, वे अल्पप्राण होने पर भी उन लोगों से अधिक काम कर लेते हैं, जो महाप्राण तो हैं, पर अरुचि के कारण जिनका मन जल्दी थक जाता है।

प्रशस्तपाद ने कर्म की उत्पत्ति की यह प्रक्रिया बतायी है—पहले इच्छा होती है, फिर तदनुकूल प्रयत्न, फिर क्रिया। यह प्रयत्न ही प्राण है। प्राण सर्वव्यापक है। अग्नि-प्राण गतिशील है। उसे वायु कहते हैं। सोम-प्राण स्थितिशील है, उसे आकाश कहते हैं। यही यत् और जू है, यही अग्नि और सोम है। बलों की न्यूनाधिकता से प्राण अनेक प्रकार के हो जाते हैं। इनमें मुख्य प्राण ऋषि कहलाते हैं। इन प्राणों को अग्नि से प्रकट हुआ कहा जाता है तथा ये अङ्गिरा के पुत्र बतलाये जाते हैं—

विरूपास इदृषयस्त इदं गम्भीरवेपसः।

ते अङ्गिरसः सूतवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे। (ऋग्वेद १०.६२.५)

विशेष बात यह है कि प्राण ब्रह्म में विकार उत्पन्न नहीं करता है। जिसे हम यहां प्राण कह

रहे हैं, वेदान्ती उसे माया, साङ्ख्य उसे प्रकृति, न्यायवैशेषिक अदृष्ट तथा विज्ञान ऊर्जा कहता है। मुख्य अन्तर यह है कि विज्ञान ऊर्जा और पदार्थ अर्थात् प्राण और वाक् की चर्चा तो करता है, किन्तु 'मन' विज्ञान के क्षेत्र से बाहर छूट जाता है। इसीलिये रस रूप ब्रह्म विज्ञान के क्षेत्र में नहीं आता।

## प्राण

सामान्यतः प्राण शब्द प्र उपसर्ग पूर्वक अन् धातु से निष्पन्न माना गया है। जिसके द्वारा सब प्राणवान् है वही प्राण है—*तद्यत्प्राणे तस्मात्प्राणः* (जैमिनीय ब्राह्मण २.५.७)। किन्तु शतपथ-ब्राह्मण में प्राण की एक दूसरी व्युत्पत्ति भी दी है। प्राण का प्राणत्व यह है कि प्राण द्वारा अन्न आत्मा में धारण किया जाता है—*यद्वै प्राणेनान्मात्मन्प्राणयते तत्प्राणस्य प्राणत्वम्* (शतपथ ब्राह्मण १२.९.१.१४)। वस्तुतः अन्न का आत्मा में धारण किया जाना ही हमारे जीवित रहने का कारण है, इसलिये उपर्युक्त प्राण शब्द के दोनों अर्थों में तात्त्विक भेद नहीं है।

प्राण ही अक्षय अथवा अमृत है—*अक्षीयं वा अमृतमेते प्राणाः* (काण्व शतपथ ३.१.११.६)। सब प्राण के सहारे रहते हैं, इसलिए प्राण ही श्री है—*अथ यत्प्राणा अश्रयन्त तस्माद् प्राणाः श्रियः* (शतपथ ब्राह्मण ६.१.१.४)। प्राण निरन्तर गतिशील रहते हैं—*अधुवं वै तद् यत् प्राणः* (शतपथ ब्राह्मण १०.२.६.१९)। षड्विंश कहता है प्राण सदा उद्यत रहते हैं—*उद्यत इव हि अयं प्राणः* (षड्विंश ब्राह्मण २.२)। प्राण ही यह सब कुछ बना है—*प्राणो वा इदं सर्वमभवत्* (जैमिनीय ब्राह्मण ३.३७७)। यदि कोई जानना चाहे कि एक देवता कौन सा है तो उत्तर होगा कि प्राण ही एक देवता है—*कतमैका देवतेति प्राण इति* (जैमिनीय ब्राह्मण २.७७)। प्राण से अधिक प्रिय कुछ भी नहीं है—*न वै प्राणात् प्रियः किञ्चनास्ति* (जैमिनीय ब्राह्मण १.२७२)। एक प्राण ही समस्त अंगों की रक्षा करता है—*एकः प्राणः सर्वाण्यङ्गान्यवति* (तैत्तिरीय संहिता ७.५८.५)।

प्राण से केवल मनुष्य और पशु ही नहीं, देवता भी जीवित रहते हैं—*प्राणं वा देवा अनु प्राणान्ति मनुष्या पशवश्च* (तैत्तिरीयारण्यक ८.३.१)। प्राण ही ज्येष्ठ है, प्राण ही श्रेष्ठ है—*प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च* (शतपथ ब्राह्मण १४.९.२.१)। जैमिनीय ब्राह्मण का कहना है कि प्राण अन्तिम है—*प्राणोऽन्त्यम्* (जैमिनीय ब्राह्मण १.३०९)। प्राण में शरीर प्रतिष्ठित है। शरीर में प्राण प्रतिष्ठित है—*प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितं शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः* (तैत्तिरीयारण्यक ७.९.१)। प्राण से ही यज्ञ का विस्तार होता है—*प्राणेन यज्ञः सन्ततः* (मैत्रायणी संहिता ४.६.२)। प्राण मधु है—*प्राणो वै मधु* (शतपथ ब्राह्मण १४.१.३.३०)।

पाप प्राण को छू भी नहीं पाता—*तं पाप्मा नाऽन्वसृज्यत*। न ह्येतेन प्राणेन पापं वदति न पापं ध्यायति न पापं पश्यति न पापं श्रूणोति न पापं गन्धमपानिति। *तेनाऽपहत्य मृत्युमपहत्य पाप्मानं स्वर्गं लोकमायन्* (जैमिनीयोपनिषद् २.१.१.१९-२०)। जिस प्रकार क्षत्रिय सबकी रक्षा करता है उसी प्रकार प्राण सबकी रक्षा करता है—*प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते हैंन प्राणः क्षणितोः* (शतपथ ब्राह्मण १४.८.१४.४)। प्राण सभी भूतों के लिए हितकर है—*प्राणो हि सर्वेभ्यो भूतेभ्यो हितः*। जो भी सत्य है वह प्राण है—*यत्सत्यमिति प्राण सः* (जैमिनीय ब्राह्मण ३.३६०)। प्राण महान्

है—प्राण एव महान् (शतपथ ब्राह्मण १०.३.५.४) । प्राण रक्षक है । वह स्वयं नष्ट न होता हुआ सबकी रक्षा करता है—प्राणो वै गोपाः स हीदं सर्वमनिपद्यमानो गोपायति (जैमिनीयोपनिषद् ३.६.९.२) ।

प्राण में ही सर्वभूत रत रहते हैं—प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रतानि (शतपथ ब्राह्मण १४.८.१.३) । प्राण विश्व की ज्योति है—प्राणो वै विश्वज्योतिः (शतपथ ब्राह्मण ७.४.२.२८) ।

हमने ऊपर कहा कि प्राण ही एक देवता है । वस्तुतः सभी देवता प्राण हैं—प्राणा देवाः (शतपथ ब्राह्मण ७.५.२.१) । अपि च (तैत्तिरीय संहिता ६.१.४.५ काठक संहिता २७.१) । अग्नि भी प्राण है—अग्निर्वै प्राणः । आहवनीय, गार्हपत्य, अन्वाहार्य, पचन—ये सभी अग्नियां प्राण हैं—ते वा एते प्राणाः एव यदग्नयः (शतपथ ब्राह्मण २.२.२.१८) । यदि पार्थिवदेव अग्निप्राण हैं तो अन्तरिक्ष का देव वायु अथवा इन्द्र भी प्राण है—वातः प्राणः (तैत्तिरीय संहिता, ७.५.२५.१) ।

द्युलोक का देव आदित्य भी प्राण है—आदित्यः प्राणः (तैत्तिरीय संहिता १५.२.५.४) । अपि च, आदित्यो वै प्राणः (जैमिनीयोपनिषद् ३.१.४.९) । प्राणो ह्येव तपति—(ऐतरेयारण्यक २.२.१.३) ।

इस प्रकार पार्थिव, आन्तरिक्ष्य तथा दिव्य सभी देवता प्राणरूप हैं ।

प्राण का विशेष सम्बन्ध आन्तरिक्ष्य वायु अथवा इन्द्र रुद्र से है—अन्तरिक्षदेवत्यो हि प्राणः (तैत्तिरीय संहिता ६.४.५.५) । वस्तुतः 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के सिद्धान्तानुसार आधिदैवत और अध्यात्म में परस्पर तालमेल है । जो देवों में वायु है; वह मनुष्यों में प्राण है । जो देवों में आदित्य है, वह मनुष्यों में चक्षु है । जो देवों में दिशा है, वह मनुष्यों में श्रोत्र है । जो देवों में पृथिवी है, वह मनुष्यों में वाक् है—प्राणो वै मनुष्यधूर्वायुर्देवधूः । चक्षुर्वै मनुष्यधूरादित्यो देवधूः । श्रोत्रं वै मनुष्यधूर्दिशो देवधूः । वाग्वै मनुष्यधूः पृथिवी देवधूः (जैमिनीय ब्राह्मण १.२७०) । पुरुष में रहने वाले दस प्राण ही रुद्र हैं, ग्यारहवीं आत्मा है । ये जब निकलते हैं तो मनुष्य को रुलाते हैं, इसलिए ये रुद्र कहलाते हैं—कतमे ते रुद्रा इति, दश पुरुषे प्राणा इति होवाच । आत्मैकादशस्ते यदोक्तामन्तो यन्ति, अथ रोदयन्ति, तस्माद्बुद्रा इति (जैमिनीय ब्राह्मण २.७७) । जिस प्रकार प्राण का सम्बन्ध वायु से तथा रुद्र से है, उसी प्रकार इन्द्र से है—ऐन्द्रः खलु वै देवतया प्राणः (तैत्तिरीय संहिता ६.३.११.२) ।

प्राण का वायु से सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि प्रायः सभी ब्राह्मण ग्रन्थों ने इसे दोहराया है—प्राणो वै वायुः । (तैत्तिरीयसंहिता २.१.१.२, मैत्रायणीसंहिता २.५.१; ३.४.३; ४.५.८; ६.२ काठकसंहिता २१.३, कौषीतिकब्राह्मण ५.८; १३.५, गोपथब्राह्मण २.१.२६ जैमिनीयब्राह्मण २.१३७; १८४; १९७; ३८९; ३.२२७ ताण्ड्यब्राह्मण ४.६.८, शतपथब्राह्मण ४.१.१.१५; ६.२.२.६) । इसलिए प्राण से वायु प्रसन्न की जाती है—वातं प्राणेन (प्रीणामि) (मैत्रायणीसंहिता ३.१५.२) । प्रजापति ही वायु बनकर प्रजा में प्राण बना—वायुर्भूत्वा (प्रजापतिः) प्रजानां प्राणो ऽभवत् (जैमिनीय ब्राह्मण १.३१४) ।

विवक्षा की दृष्टि से प्राण के अनेक प्रकार हैं। जैमिनीयोपनिषद् में उन सब विवक्षाओं को एकत्र सङ्कलित किया गया है। एक प्राण की अपेक्षा उसका नाम प्राण है। दो होने पर वही प्राण अपान हो जाता है। तीन होने पर प्राण, अपान, व्यान; चार होने पर प्राण, अपान, व्यान, समान, पाँच होने पर प्राण, अपान, व्यान, समान, अवान, छः होने पर प्राण, अपान, व्यान, समान, अवान, उदान सात होने पर एक मुख, दो नासिका पुट, दो कान और दो चक्षु इस प्रकार सात शीर्षस्थ प्राण होते हैं। इन्हीं सात में दो अवाक् अर्थात् मूत्र स्थान और मल स्थान जोड़ने पर नौ प्राण हो जाते हैं तथा इन्हीं में नाभि जोड़ने पर दस प्राण होते हैं। सारी प्रजा प्राण ही हैं। इसलिए प्राण अनेक हैं।

जैमिनीयब्राह्मण में नौ प्राणों का भी उल्लेख है—ते पुनर्नव भवन्ति (जैमिनीय ब्राह्मण १.३७)। गोपथब्राह्मण तथा शतपथब्राह्मण में तेरह प्राणों का उल्लेख है—त्रयोदश इमे पुरुषे प्राणः (गोपथ १.५.५)। ऊपर हम कह चुके हैं कि दस प्राण और एक आत्मा को मिलाकर ग्यारह रुद्र बनते हैं। ऐतरेय-आरण्यक में बारह प्राण गिनवाये हुए हैं सात शीर्षस्थ, दो स्तन्य तथा तीन अवाक् (मूत्र द्वार, मलद्वार तथा वीर्य द्वार) प्राण गिनवाये गए हैं (ऐतरेयारण्यक १.५.१)। शतपथ ब्राह्मण ने इसी में नाभि को जोड़ते हुए तेरह प्राण कहे हैं—नाभिस्त्रयोदशी (शतपथ ब्राह्मण १.३.२.२)।

शतपथब्राह्मण में पाँच शीर्षस्थ प्राणों का उल्लेख करते हुए मन, वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र को गिनवाया है। वस्तुतः प्राण सारे शरीर में सञ्चरण करता है—सोऽयं प्राणः सर्वाण्यङ्गान्यनुसञ्चरति (शतपथ ब्राह्मण १.३.२.३)। ऊपर हमने जो प्राणों की संख्या और नाम गिनवाये हैं वे प्राण के केन्द्र हैं।

वाक्, प्राण और मन—आत्मा के ये तीन मनोता हैं और ये तीनों सदा साथ रहते हैं। प्राण और वाक् का इतना गहरा सम्बन्ध है कि मैत्रायणीसंहिता में दोनों का तादात्म्य मान लिया गया है—प्राणो वै वाक् (मैत्रायणीसंहिता, ३.२.८)।

शतपथब्राह्मण कहता है वाक् और प्राण का जोड़ा है—वाक् च प्राणश्च मिथुनम् (शतपथ ब्राह्मण १.४.१.२)। ऐतरेय-आरण्यक वाक्, प्राण और मन के पारस्परिक सम्बन्ध को बनाते हुए कहता है वाक् पूर्वरूप अर्थात् स्थूल है, मन उत्तररूप अर्थात् सूक्ष्म है। प्राण इन तीनों को जोड़ने वाली बीच की कड़ी है—वाक् पूर्वरूपं मन उत्तर रूपं प्राणः संहिता (ऐतरेयारण्यक ३.१.१)। ऐतरेय-आरण्यक इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहता है कि वाक् प्राण से ही जुड़ी हुई है—वाक् प्राणेन संहिता (ऐतरेयारण्यक ३.१.६)। जैमिनीयब्राह्मण का कहना है कि वाक् अक्षर है, प्राण उसी की रश्मि है—वाग्वाक्षरं तस्यैव प्राण एवांशुः (जैमिनीय ब्राह्मण १.११५)। शतपथब्राह्मण का कहना है, वाक् कर्म है प्राण वाक् का पति है—वाग्वा इदं कर्म प्राणो वाचस्पतिः (शतपथ ब्राह्मण ६.३.१.१.९)। प्राण से ही वाक् का विस्तार होता है—प्राणैर्वाक् सन्तता (जैमिनीय ब्राह्मण ३.११९)। वाक् माता है, प्राण पुत्र है—वाग्वै माता प्राणः पुत्रः (ऐतरेयारण्यक ३.१.६)। प्राण वाक् का सत्य है—वाचः सत्यं यत्प्राणः (जैमिनीय ब्राह्मण २.४२५)। जैमिनीयब्राह्मण वाक् और प्राण के मिथुन को दिव्य मिथुन बताता है—तद्वै दिव्यं मिथुनं यद् वाक् च प्राणश्च (जैमिनीय ब्राह्मण

१.३०६) । सब प्राण वाक् में प्रतिष्ठित है—सर्वे प्राणा वाचि प्रतिष्ठिताः (शतपथ ब्राह्मण १०.८.२.२५) । प्राण वाक् का रस है—तस्याः प्राण एव रसः (जैमिनीयोपनिषद् १.१.७) ।

प्राण का मन से इतना गहरा सम्बन्ध है कि षड्विंशब्राह्मण में मन को प्राणों का अर्धभाग बताया गया है—अर्धभागवै मनः प्राणानाम् (षड्विंश ब्राह्मण १.५) । शतपथब्राह्मण के अनुसार प्राण मन से ही उत्पन्न होते हैं और मन से ही जुड़े हैं—इमे वै प्राणा मनोजाता मनोयुजः (शतपथ ब्राह्मण ३.२.२.१.३) । मन प्राण में एकीभूत होकर प्रतिष्ठित हैं—मन इदं सर्वमेकं भूत्वा प्राणे प्रतिष्ठितम् (जैमिनीय ब्राह्मण ३.३७१) । मन ही प्राणों को धारण किये हैं—मनसा हि प्राणो धृतः (काठक संहिता २७.१) । मन से ही प्राण प्राप्त होते हैं—मनसैव प्राणमाप्नोति (मैत्रायणी संहिता ४.५.५) ।

प्राण मन के पीछे चलता है—मनो वा अनुप्राणाः (जैमिनीय ब्राह्मण १.१६) । मन प्राणों का अधिपति है । मन में ही सब प्राण प्रतिष्ठित हैं—मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः (शतपथ ब्राह्मण १४.३.२.१) । वस्तुतः प्राण बीच में रहकर वाक् और मन दोनों को स्पर्श करता है—प्राणेनैव वाक् च मनश्चाभिहिते (जैमिनीय ब्राह्मण १.१९) । इस प्रकार प्राण वाक् और मन को जोड़ने वाली रज्जु है—प्राणो रज्जुः (जैमिनीय ब्राह्मण १.१९) ।

### प्राणों के भेद

प्राण से भूत उत्पन्न होता है । प्राण और भूत मिलकर देव कहलाते हैं । ये देवता प्राण रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं । जिन प्राणियों में वे विशेष रूप हैं, वे प्राणी भी उन्हीं प्राणों से जाने जाते हैं । जिन ग्रह-नक्षत्रों में वे हैं, वे भी इसी नाम से जाने जाते हैं और जिन ऋषियों ने इनका साक्षात्कार किया, वे भी इन्हीं नामों से जाने जाते हैं ।

सभी प्राणों का आयतन मण्डलाकार है, किन्तु इन्द्र के द्वारा फैलाये गये प्राण अर्द्धवृत्ताकार हैं । ये दो प्रकार के हैं—आग्नेयप्राण और सौम्यप्राण । ये दोनों मिलकर ही पूर्ण होते हैं । इन्हीं से सृष्टि उत्पन्न होती है ।

पुरुषसूक्त में प्राण के ५ भेद बताये हैं—पुरुष, अश्व, गौ, अज और अवि—

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥

तारामण्डल में भी सप्त-ऋषि में ४ आत्मा रूप में हैं, दो पक्ष रूप में और एक पुच्छ रूप में है । इनके नाम हैं—१ मरीचि, २ वसिष्ठ, ३ अङ्गिरा ये तीन त्रिकोण में; तथा ४ अत्रि, ५ पुलस्त्य, ६ पुलह, ७ ऋतु ये चार चतुष्कोण में । जिन्होंने इन प्राणों का दर्शन किया वे मनुष्य भी इन्हीं नामों से जाने जाने लगे ।

इन ऋषियों के बारे में पुराण की अनेक कथाएँ प्रतीकात्मक है । उनका शब्दार्थ लेना भ्रान्ति होगी । उदाहरणतः यह कहा गया है कि अगस्त्य ऋषि ने समुद्र पी लिया । यह अगस्त्यनक्षत्र वर्षा के अन्त में दिखाई देता है इसलिए इसके उदित होने पर अन्तरिक्ष का समुद्र सूख जाता है और

यही इसके द्वारा समुद्र का पी लिया जाना है ।

• तीन गुणों के तारतम्य से ही पाँच प्राण बनते हैं । जो परोरज है वह ऋषि प्राण है । उसका सम्बन्ध स्वयम्भू से है । रजः प्रवृत्तपितृप्राण का सम्बन्ध परमेष्ठी से है । रजोभावात्मक देवप्राण सूर्य से जुड़ा है । रजस्तमसात्मक पशुप्राण चन्द्रमा से जुड़ा है तथा तमप्रधान भू-प्राण पृथ्वी से जुड़ा है ।

ये ही पाँचों प्राण, आपः, वाक्, अन्न तथा अन्नाद कहलाते हैं तथा इनका सम्बन्ध क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, सोम और अग्नि से है । इन पाँच प्राणों का उल्लेख उपनिषद् इन शब्दों में करता है—

पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां, पञ्चप्राणोर्मि, पञ्चबुद्ध्यादिमूलान् ।

पञ्चावर्ता पञ्च दुःखौघवेगां पञ्चाशदभेदां पञ्चपर्वामधीमः (श्वेताश्वतरोपनिषद् १/५) ।

ऊपर कहा जा चुका है कि प्राण क्रिया है । यह क्रिया सङ्कोच और प्रसार के रूप में होती है । वेद में इसे 'एति प्रेति' कहा जाता है । जब तक प्राण का आवागमन है तभी तक जीवन है । विश्व का अणु मात्र भी स्पन्दन से रहित नहीं है, इसलिये जगत् में निष्पाण कुछ भी नहीं है और क्योंकि जहाँ जहाँ प्राण है वहाँ वहाँ प्रज्ञा है, इसलिये संसार में जड़ भी कुछ नहीं है । प्राण प्रतिक्षण क्रियाशील है, उसमें रूप, रस आदि नहीं हैं । वह पदार्थ को धारण करता है । वह सदा भूत में रहता है । वह परमाणुओं से जुड़ता है, वह मन को भी बाँध लेता है, वह थोड़े स्थान में रहकर अधिक स्थान घेरता है । प्राण के सब व्यापार मन से ही होते हैं । मन जागता-सोता है, किन्तु प्राण न कभी थकता है, न कभी सोता है । यह जहाँ अधिक होता है, वहाँ से जहाँ कम होता है वहाँ चला जाता है । तीन लोकों में पृथ्वी का देवता अपान-अग्नि है, वायु का व्यान-अग्नि और आदित्य का प्राण-अग्नि ।

प्राण ही मन में और वाक् में क्रिया के द्वारा इच्छा और अर्थ को सक्रिय बनाता है । प्राण के साहचर्य से मन सीमित हो जाता है । मन रस रूप है, प्राण बल रूप । मन अपरिच्छिन्न है । प्राण उसे परिच्छिन्न करता है । प्राण अनन्त हैं, इसलिये वे पूरे मन में व्याप्त रहते हैं । प्राणों में प्रवाहनित्यता है ।

## वाक्

वाक् स्थान रोकती है । उसमें विकार होता है । वह प्राण को ग्रहण करती है और छोड़ देती है । उसका केन्द्र होता है । वह मूर्त है । वाक् स्थानावरोधक है, अतः जब तक एक वाक् अपना स्थान न छोड़े, दूसरी वाक् वहाँ नहीं आ सकती । वाक् के विकार के कारण वह अपना स्वरूप बदल देती है, उदाहरणतः घास दूध बन जाती है । वाक् एक प्राण को छोड़ कर दूसरा प्राण ग्रहण कर लेती है । वाक् दिक्, देश और काल से परिच्छिन्न होती है । वाक् का अपना वैशिष्ट्य होता है, जिसके कारण एक वाक् दूसरी वाक् से भिन्न होती है ।

मन और प्राण वाक् के द्वारा ही अभिव्यक्त होते हैं । इसलिये यह कहा गया है कि वाक्

ही सब पदार्थों का आधार है ।

वाक् के चार भेद हैं (१) परा बुद्धिस्थ है । (२) मानसजपस्वरूप पश्यन्ती है । (३) नाद ध्वनिर्गहन मध्यमा है, तथा (४) नादध्वनि से पूर्ण वैखरी है । मनुष्य वैखरीवाणी का ही प्रयोग करता है । वाक् इन्द्र है । इन्द्र के बिना कुछ भी पवित्र नहीं है, अतः वाक् के बिना कुछ भी पवित्र नहीं है ।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल का १२५ वां सूक्त वाक्सूक्त कहलाता है, जिसमें स्वयं वाक् ही अपनी महिमा बताती है । इस सूक्त के चौथे मन्त्र में वाक् कहती है—जो देखता है, जो प्राण व्यापार करता है तथा जो कथित वक्तव्य को सुनता है वह मेरे द्वारा ही अन्न को खाता है । आपाततः वाक् का यह कहना कि सब मेरे द्वारा अन्न खाते हैं, बहुत अटपटा लगता है, किन्तु यदि हम ब्राह्मण-ग्रन्थों के वक्तव्यों पर दृष्टि डालें तो इस वक्तव्य का वैज्ञानिक रहस्य सामने आता है । जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है—वाक् के द्वारा दो कार्य होते हैं—इसके द्वारा अन्न खाया जाता है और बोला जाता है—*द्वयं वाचा करोति अन्नं चैनयाति वदति च (जैमिनीयब्राह्मण १.२५४)* । वाक् द्वारा बोलना तो समझ में आता है, किन्तु अन्न खाना समझ में नहीं आता । इसके समझने के लिए ब्राह्मणग्रन्थों के उन वक्तव्यों को सामने रखना होगा जो वाक् का अग्नि में तादात्म्य बताते हैं । जैमिनीयब्राह्मण कहता है—*अग्निर्वै वाक् (२.५८)* । शतपथब्राह्मण भी कहता है—*वागेवाग्निः (३-२-२-१३)* । गोपथ भी इसका समर्थन करता है—*या वाक् सोऽग्निः (गोपथ २-४-११)* । ऐतरेय-आरण्यक इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए कहता है अग्नि ही वाक् बनकर मुख में प्रविष्ट हो गयी । जड़पिण्ड हो या चेतन, सब में वैश्वानर अग्नि है । यह वैश्वानर अग्नि ही अन्न को पचाती है—*येनेदं अन्नं पच्यते* इसी वैश्वानर अग्नि के लिए गीता में कहा है—*अहं वैश्वानरो भूत्वा पचाम्यन्नं चतुर्विधम्* । प्रश्न होता है कि वाक् तो सामान्यतः शब्द है, फिर इसे अग्नि कैसे कहा गया ? ब्राह्मणग्रन्थ समाधान करते हैं कि दोनों कर्णविवरों को अङ्गुलियों से बन्द कर लेने पर जो शब्द सुनाई पड़ता है वह इस वैश्वानर अग्नि का ही है । अतः अग्नि का वाक् से तादात्म्य मानना युक्त ही है । यह अग्नि केवल चेतन कहे जाने वाले पिण्डों में ही नहीं, जड़ पदार्थों में भी है । यदि जड़ पदार्थों में यह अग्नि न हो तो उनमें आदान-विसर्ग की क्रिया ही न हो और ये पदार्थ कूटस्थ हो जायें, किन्तु कोई भी पदार्थ कूटस्थ दृष्टिगोचर नहीं आता । यह इस बात का सूचक है कि इनमें आदान-विसर्ग की क्रिया हो रही है । यह आदान-विसर्ग की क्रिया उस पदार्थ में स्थिर वैश्वानर-अग्नि के कारण ही है । यही अग्नि पदार्थ में निरन्तर परिवर्तन कर रही है । तैत्तिरीयब्राह्मण कहता है—*योऽग्निर्मृत्युः सोऽग्निर्वागेव सा (जैमिनीय ब्राह्मण १-२४९)* । वैदिक भाषा में मृत्यु परिवर्तन का सूचक है, अमृत कूटस्थता का कारण है । प्रत्येक पदार्थ में इस वैश्वानर-अग्नि के कारण कुछ परमाणु आकर पदार्थ का अङ्ग बन जाते हैं । यही अन्न का पचना है । कुछ परमाणु इसी अग्नि के कारण विशीर्ण होकर पदार्थ से अलग हो जाते हैं । यही मृत्यु है । पदार्थ का आदान-विसर्ग ही अग्निहोत्र है । यह अग्निहोत्र मृत्यु है । यह अग्निहोत्र प्रत्येक पिण्ड में चल रहा है । यदि यह अग्निहोत्र न चले तो पिण्ड में परिवर्तन ही न हो । इस अग्निहोत्र को करने के कारण वाक् अग्निहोत्र कहलाती है—*वाग् वा अग्निहोत्री (जैमिनीय ब्राह्मण १-१९)* । वैश्वानर-अग्नि पिण्ड में रहकर

चारों ओर फैले हुए आपोलोक से शक्ति का आह्वान करती है। इसलिए उसे होता कहा जाता है। अधिदैव में जिसका नाम अग्नि है, अध्यात्म में उसी का नाम वाक् है—*अग्निर्वै होता अधिदैवम् वाग् अध्यात्मम् (शतपथ १२-१-१-४)*। अर्थात् होता अथवा शक्ति के आह्वान करने का जो कार्य अग्नि कर रहा है। वैश्वानर के रूप में अध्यात्म में यही कार्य वाक् कर रही है। अग्नि का यही रूप जो शक्ति का आह्वान करता है, रुदन करने के कारण रुद्र भी कहलाता है—*रुद्रो अग्निः (काठक संहिता ११-५)* तथा *सोऽरोदीत् तद्वा अस्य एतन्नाम रुद्र इति (मैत्रायणी संहिता ४-२-१२)*। इसी पृष्ठभूमि में तैत्तिरीय-आरण्यक कहता है कि अन्न वाक् के लिए है—*वाचे अन्नम् (तैत्तिरीयारण्यक ३-१०-३)*।

### आत्मा की घटक : वाक्

शतपथब्राह्मण के अनुसार आत्मा के तीन घटक हैं—मन, प्राण और वाक्। इनमें पूर्व की अपेक्षा पर स्थूल हैं, अर्थात् मन से प्राण स्थूल हैं, प्राण से वाक् स्थूल हैं। यह सूक्ष्म, स्थूल और स्थूलतर का त्रिक त्रयी के समकक्ष है। यजुर्वेद कहता है—*ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये (यजुर्वेद ३६.१)*। मन-प्राण-वाक् के त्रिक का ऋक्-यजु-साम की इस त्रयी से तादात्म्य-सम्बन्ध होने के कारण त्रयीविद्या के सभी त्रिक मन-प्राण-वाक् से जुड़े हैं। उदाहरणतः वाक् यदि अग्निदेव से जुड़ी है तो प्राण वायु से जुड़े हैं—*अयं वै प्राणो योऽयं पवते (शतपथ ब्राह्मण ५-२-४-१०)* तथा मन सविता से जुड़ा है—*मन एव सविता (गोपथ ब्राह्मण १-१-१३)*। गीता के अन्वय, अक्षर और क्षर क्रमशः मन, प्राण, वाक् से जुड़े हैं।

सूक्ष्म होने के कारण मन असीम है, तो स्थूल होने के कारण वाक् सीमित है '*अपरिमिततरमिव हि मनः परिमिततरेव हि वाक् (शतपथ ब्राह्मण १-४-४-७)*। सूक्ष्म से स्थूल पैदा होता है इसलिए मन से वाक् उत्पन्न होती है—*मनसो हि वाक् प्रजायते (जैमिनीय ब्राह्मण १-३२०)*। मन पहले है, वाक् बाद में—*मनो वै पूर्वम् अथ वाग्र (जैमिनीय ब्राह्मण १-१२८)*। इस प्रकार वाक् और मन का मिथुन है—*वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम् (ऐतरेय ब्राह्मण ५-२३)*। वाक् और मन का परस्पर इतना गहरा सम्बन्ध है कि जैमिनीय उपनिषद् में वाक् को ही मन कह दिया गया है—*वागिति मनः। स्थूल होने के कारण वाक् मन की अपेक्षा छोटी है—वाग् वै मनसो हसीयसी। (शतपथ ब्राह्मण १-४-४-७)*। वाक् यदि समुद्र है तो मन मानों उस समुद्र को देखने के लिए चक्षु है—*वाग् वै समुद्रो मनः समुद्रस्य चक्षुः (ताण्ड्य ब्राह्मण ६-४-७)*।

प्राण, मन की अपेक्षा वाक् के और भी निकट हैं, क्योंकि वे इतने सूक्ष्म नहीं हैं जितना मन। शतपथब्राह्मण वाक् और प्राण को मिथुन बताता है—*वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम् (शतपथ ब्राह्मण १-४-१-२)*। जैमिनीयब्राह्मण वाक् और प्राण के इस मिथुन को दिव्यमिथुन बताता है—*तद् वै दिव्यं मिथुनं यद् वाक् च प्राणश्च (जैमिनीय ब्राह्मण १-३०६)*। वस्तुतः ऐतरेय-आरण्यक का कहना है कि प्राण ही वाक् को जोड़े रहता है—*वाक् प्राणेन संहिता (ऐतरेय आरण्यक ३-१-६)*। इसलिए जैमिनीय उपनिषद् में प्राणों को वाक् का रस बताया है—*तस्यैष प्राणो एव रसः (जैमिनीय उपनिषद् १-१-१-७)*। जिस प्रकार वाक् और मन के घनिष्ठ सम्बन्ध को देखकर मन को ही वाक्



कह दिया गया था उसी प्रकार प्राण और वाक् के घनिष्ठ सम्बन्ध को देखकर प्राण को ही वाक् कह दिया गया था—*प्राणो वै वाक् (मैत्रायणीसंहिता ३-२-८)* । प्राण वाक् का पति है—*प्राणो वाचस्पतिः (शतपथ ब्राह्मण ६-३१-१८)* प्राण ही वाक् का विस्तार कर रहा है—*प्राणैर्वाक् सन्तता (शतपथ ब्राह्मण ३-१-१८)* । प्राण वाक् और मन को जोड़ने वाली कड़ी है—*वाक् पूर्वरूपम् मन उत्तररूपम् प्राणः संहिता (ऐतरेय आरण्यक ३-१-१)* । अभिप्राय यह है वाक् स्थूल है, मन सूक्ष्म है, प्राण न मन जितना सूक्ष्म है । न वाक् जितना स्थूल । इसलिए प्राण, वाक् और मन दोनों को परस्पर जोड़ने में कड़ी का काम देता है । वाक् मानों गौ है, प्राण उसका गर्भ—*वागस्य जन्मना वशा सा प्राणं गर्भमधत् । (तैत्तिरीय संहिता २-१३-१५)* ।

### प्रजापति वाक्

तैत्तिरीयब्राह्मण वाक् को प्रजापति बताता है—*प्रजापतिर्वाक् (तैत्तिरीय ब्राह्मण १-३-४-५)* । जिस प्रकार प्रजापति दो प्रकार का है उसी प्रकार वाक् भी दो प्रकार की है—निरुक्त और अनिरुक्त । वस्तुतः वाक् प्रजापति की ही तो महिमा है—*वाग्वा अस्य प्रजापतिः स्वो महिमा (शतपथ ब्राह्मण २-२-४-४)* । सर्जन के लिए दो भी आवश्यक है पिता और माता । प्रजापति पिता है और वाक् माता है । *प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत् । तस्य वाग् द्वितीया आसीत् तं मिथुनं समभवत् । सा गर्भमधत् । (ताण्ड्य ब्राह्मण २०-१४-२)* । यदि प्रजापति सर्वव्यापक है—*सर्वं वै प्रजापतिः (शतपथ ब्राह्मण १-३-५-१०)* , तो वाक् भी विराट् है—*वाक् वै विराट् (शतपथ ब्राह्मण ३-५-१-३४)* । जिसे परवर्ती दर्शन में पुरुष और प्रकृति युगल कहा गया है । वैदिक परिभाषा में वही प्रजापति और वाक् का मिथुन है । प्रकृति पञ्चभूतात्मक है । पञ्चभूतों में आकाश भौतिक होते हुए भी नित्य ब्रह्म के निकटतम है । आकाश का गुण होने के कारण शब्द आकाश में सर्वव्यापक है । कण्ठादि उच्चारणस्थानों के द्वारा वायु के संघर्षण में उत्पन्न होने वाला शब्द भी उसी शब्द की अभिव्यक्ति है, जो परिमित है, व्यक्त है, मर्त्य है, मूर्त है, और अनित्य है । यही वाक् वेदान्तदर्शन की वह माया है, जो असीम को सीम बनाती है, अव्यक्त को व्यक्त बनाती है, अनिरुक्त को निरुक्त बनाती है । वाक् यदि व्यक्त है, तो मन अव्यक्त है और प्राण व्यक्ताव्यक्त है । यही वाक् का त्रिवृत् रूप है—*त्रेधा विहिता हि वाक् (शतपथ ब्राह्मण ६-५-३-४)* ।

जब भी दो मिलकर तीसरे को जन्म देते हैं तो उन दो को मिथुन कहा जाता है । इस दृष्टि से वाक् और प्राण भी मिथुन हैं, वाक् और मन भी मिथुन हैं—*वाक्च वै प्राणश्च मिथुनम् (शतपथ ब्राह्मण १-४-१-२)* , *वाक्च वै मनश्च देवानां मिथुनम् (ऐतरेय ब्राह्मण ५-२३)* । षड्विंशब्राह्मण वाक् को प्राण पत्नी बतलाते हैं । जब प्राण और वाक् मिथुन बनते हैं तो प्राण को ऋषभ, वाक् को गौ और मन को वत्स बताया जाता है—*प्राण ऋषभो मनो वत्सः (शतपथ ब्राह्मण १४-८-६-१)* । इसी दृष्टि से वाक् को गौ कहा गया है—*गौर्वै वाक् (मैत्रायणी संहिता ९-२-१)* ।

### पञ्चपर्वों में वाक्

विश्व के प्रथम पर्व स्वयम्भू में यही वाक् नित्य है । मनु ने कहा है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा, विश्व के दूसरे पर्व परमेष्ठी में यह वाक् परमेष्ठिनी वाक् कहलाती है (अथर्ववेद १६-८-३) । इस वाक् को महिषी तथा राष्ट्री भी कहते हैं। महिषी हि वाक् (शतपथ ब्राह्मण ६-५-३-४) तथा वाग् वै राष्ट्री (ऐतरेय ब्राह्मण १-६) । महिषी और राष्ट्री पर्यायवाची हैं। दोनों का ही अर्थ सम्राज्ञी है—इस परमेष्ठिनी वाक् में शब्द और अर्थ में भेद नहीं है इसलिए शब्द यहाँ स्वर और व्यंजन के रूप में अभी निरुक्त नहीं हुआ है। इसे ही एकाक्षरावाक् कहा जाता है—एकाक्षरा वै वाक् (जैमिनीय ब्राह्मण २-३१२) । इस एकाक्षरा वाक् का उदाहरण बृहदारण्यक-उपनिषद् में प्रजापति के द्वारा “द” अक्षर का तीन बार उच्चारण करना है जिसका अर्थ देव, मनुष्य तथा असुरों ने अपने अपने अभिप्राय के अनुसार लिया था (बृहदारण्यकोपनिषद् ५-२-१-३) । यह परमेष्ठिनी वाक् सौरदेवों द्वारा सौरी वाक् में बदल दी गयी—दैवीं वाचमजयत्र देवास्तां विश्वरूपा पशवो वदन्ति (ऋग्वेद ८-१००-११) ।

यह दैवी वाक् ही इन्द्र-पत्नी है, जहाँ वाक् क, चट, त्रप इत्यादि वर्णों में व्याकृत हो जाती है, इसलिए संस्कृत के वैयाकरण इन्द्र को प्रथम वैयाकरण कहते हैं। वाक् का यह रूप यज्ञ है—वाग् वै यज्ञः (ऐतरेय ब्राह्मण ५-२) । यह वाक् का सूर्य के साथ सम्बन्ध होने का फल है—युञ्जामि वाचं सह सूर्येण (ताण्ड्य ब्राह्मण १-२-१) । यहाँ वाक् देवताओं की मनोता बन गयी—वाक् वै देवानां मनोता। विश्व के चौथे पर्व चन्द्रमा में रहने वाली वाक् सुब्रह्मण्या कहलाती है—वाग्घ चन्द्रमा (शतपथ ब्राह्मण ८-२-७) तथा वाग् वै सुब्रह्मण्या (ऐतरेय ब्राह्मण ६-३) । स्वयम्भू व सूर्य और पृथिवी की वाक् अग्निप्रधान होने से ब्रह्म है तथा परमेष्ठी और चन्द्रमा की वाक् सोम प्रधान होने से सुब्रह्म है—वाग् वै ब्रह्म सुब्रह्म चेति (ऐतरेय ब्राह्मण ६-३) । तीन अग्निप्रधान और दो सोम प्रधान इन—पाँच वाक् का सङ्केत ऋग्वेद में ही है—त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम् (ऋग्वेद १०-२७-२३) । पृथिवी की वाक् अनुष्टुप् कहलाती है—वाग्वा अनुष्टुप् (मैत्रायणी संहिता २-३-७) ।

### सर्वराज्ञी वाक्

इस प्रकार वाक् पञ्चपर्वा विश्व में व्याप्त होने के कारण समुद्र कहलाती है—वाक् वै समुद्रः तथा न वै वाक् क्षीयते न समुद्रः क्षीयते (ऐतरेय ब्राह्मण ५-१६) । वाक् अपने शुद्ध रूप में शक्ति रूप है जिसे आपः अथवा शरीर कहा जाता है—वाग् वै सरिरम् (शतपथ ब्राह्मण ७-५-२-३) । इस आपः में जब क्षोभ होता है तब वह सरिर अथवा सलिल कहलाने लगता है। यही वाक् का सर्पण है, जिसके कारण वाक् सर्पराज्ञी कहलाती है—वाग् वै सर्पराज्ञी (कौषीतकिब्राह्मण २७-४) ।

### साहस्री वाक्

निदानविद्या में वाक् को साहस्री कहा जाता है, क्योंकि सहस्र अनन्त का वाचक है—वाग् वा एषा निदानेन यत् साहस्री (शतपथ ब्राह्मण ४-५-८-४) । ऋग्वेद में तीन सहस्रो का उल्लेख है—त्रेधा सहस्रमवितदेरयेथाम् (ऋग्वेद ६-६९-८) । ऐतरेयब्राह्मण इन तीनों सहस्रों की व्याख्या करते हुए कहता है कि लोक, वेद और वाक् ये तीन सहस्र हैं अर्थात् तीन पदार्थ अनन्त हैं—तदाहुः किं तत् सहस्रमितिमे लोका इमे वेदा अथो वागिति (ऐतरेय ब्राह्मण ६-१५) ।

## सुपर्णी वाक्

वाक् को पक्षी बताया गया है—*वागेव सुपर्णी (शतपथ ब्राह्मण ३-६-२-२)* । सुपर्णी शब्द दो पंखों का वाचक है । प्राणों का आकुञ्चन और प्रसारण ही वाक् के दो पंख हैं—*प्राणो वै समञ्चनप्रसारणं (शतपथ ब्राह्मण ८-१-४-१०)* । बिना आकुञ्चन प्रसारण के कोई वाक् अथवा पिण्ड नहीं रह सकता ।

## वेद की वाक् सम्बन्धी चर्चा का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

परवर्ती दार्शनिक साहित्य में परावाक् कही जाने वाली वाक् स्वयम्भू की नित्यावाक् है, जबकि पश्यन्ती वाक् परमेष्ठिनी अथवा आम्भूणी वाक् है । मध्यमावाक् पश्यन्ती और वैखरी के बीच की स्थिति है । वैखरीवाक् का प्रयोग हम सब करते हैं । वैखरीवाक् आकाश में उत्पन्न होती है—*विशेषेण खम् = आकाशं राति = ददाति* । अलंकारकौस्तुभ में परावाक् का सम्बन्ध मूलाधार से, पश्यन्ती का हृदय से, मध्यमा का बुद्धि से और वैखरी का मुख से जोड़ा गया है । बाद में काव्यशास्त्रियों ने परा का सम्बन्ध रस से, पश्यन्ती का अर्थ से, मध्यमा का छन्द से और वैखरी का शब्द से सम्बन्ध बताया । इसी भाव को लेकर गमचरितमानस में तुलसीदास ने '*वर्णानामर्थसङ्घानां रसानां छन्दसामपि*' लिखा ।

## अक्षरपुरुष

अक्षर पुरुष में बल का संयोग होने पर भी हृदप्रन्थिबन्धन नहीं होता, इसलिए इसमें क्षरण नहीं होता । यही प्राण है । तैत्तिरीयोपनिषद् में इसे सत्यविज्ञान आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया गया है (*तैत्तिरीयोपनिषद् २.१.१*) । मुण्डकोपनिषद् कहता है—

*यथा सुदीप्तात्पावकाद् विम्बुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।*

*तथाक्षराद्विधाः सौम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥*

(*मुण्डकोपनिषद् २.१.१*)

अक्षरपुरुष के दो भेद हैं—पर और सामान्य । सामान्य-अक्षर पर-अक्षर से उदित होते हैं और उसमें ही विलीन हो जाते हैं । अक्षरपुरुष सर्वज्ञ तथा शक्तिमान् है । इस अक्षरपुरुष से; यथा 'सुदीप्तात् पावकात्' श्रुति के अनुसार; अनन्तभाव उदित होते हैं । अक्षरपुरुष में कोई क्षरण नहीं होता, किन्तु यह जगत् का कारण बनता है । अक्षर अव्यक्त है । यह जब घनभाव में आता है तो व्यक्तक्षर बन जाता है । यह क्षर अवर है, अव्यय पर है, अक्षर परावर है । इसलिये अक्षर को सेतु कहा जाता है ।

अक्षर, क्योंकि सदैव एक रूप रहता है, इसलिए इसे कूटस्थ भी कहा जाता है । अक्षर समर्थ होने के कारण ईश्वर कहलाता है । अक्षर भोक्ता नहीं है, निःकाम है । जिस प्रकार सूर्य कर्म करते हुए भी कर्मफल का भोक्ता नहीं बनता, वही स्थिति अक्षर की है ।

## अक्षर की पाँच कलाएँ

अक्षर की पाँच कलाएँ हैं—ब्रह्मा, विष्णु, अग्नि इन्द्र और सोम। ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र हृदय हैं, अग्नि और सोम पृष्ठय। ब्रह्मा प्रतिष्ठा है। इन्द्र विक्षेपणशक्ति है, विष्णु यज्ञशक्ति है। ये तीनों हृदय हैं। आहरण करने के कारण विष्णु हृ है, अवखण्डन के कारण इन्द्र दृ है और प्रतिष्ठा के कारण ब्रह्मा यम् है। अग्नि विस्तार है, सोम सङ्कोच है। बाहर निकलने वाला तत्त्व अग्नि है, भीतर प्रविष्ट होने वाला तत्त्व सोम है। अग्नि और सोम से पदार्थों में घनता-नरलता आती है। सोम अन्न है, अग्नि अन्नाद है। यदि अग्नि न हो तो पदार्थ सङ्कुचित होते होते, और सोम न हो तो विस्तृत होते होते, नष्ट हो जाये। इसलिए *अग्नीषोमात्मकं जगत्* कहा जाता है। आगति में स्थिति का गर्भित होना सङ्कोच तथा गति में स्थिति का गर्भित होना विकास है। अक्षरपुरुष की पाँच कलाओं में ब्रह्मा से वेद, विष्णु से यज्ञ, इन्द्र से प्रजा, अग्नि से लोक और सोम से धर्म उत्पन्न होता है। ये पाँचों प्रत्येक पदार्थ में रहते हैं।

अक्षरपुरुष की ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम नामक कलाओं के कारण संसार के पदार्थों की स्थिति बनी रहती है और उनमें परिवर्तन भी होता रहता है। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में “स्त्रियाम्” सूत्र की व्याख्या करते समय आदान को स्त्यान और प्रदान को प्रसव कहा है। यह आदान-प्रदान प्राणियों में तो भोजन-ग्रहण और मलत्याग के रूप में होता ही है। वृक्षादि में भी जलग्रहण और पुष्पफल के विसर्जन के रूप में होता है तथा जड़ दीपक आदि में भी तेल का ग्रहण और प्रकाश का त्याग देखने में आता है।

इस आदान-प्रदान के कारण ही पदार्थ में वृद्धि और क्षय होता है। अधिक ग्रहण और अल्पत्याग से वृद्धि होती है। अल्पग्रहण और अधिक त्याग से क्षय होता है। यह परिवर्तन प्रतिक्षण चलता है। इस परिवर्तन के होने पर भी जो पदार्थ की प्रत्यभिज्ञा होती है उसका कारण वह प्रतिष्ठा तत्त्व है जो ब्रह्माप्राण का कारण है। इसी प्रकार विष्णुप्राण के कारण पदार्थ में ग्रहण होता है तथा इन्द्रप्राण के कारण संक्रमण होता है। सङ्क्रमण के समय जो दीप्ति होती है वही इन्धः है। इसी इन्ध को करने के कारण इन्द्र को इन्द्र कहते हैं। लोहे को पत्थर पर रगड़ने से जो चिन्गारियाँ उत्पन्न होती हैं उनमें इस क्रिया को स्पष्ट देखा जा सकता है।

उपाधि से उपहित आत्मा जीव कहलाता है। क्लेश, कर्म और विपाक अविद्या—ये तीन जीव में रहते हैं। ईश्वर में ये तीनों नहीं हैं—*क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः* (योग-सूत्र १.२४)। ईश्वर में अक्षरपुरुष का एक भाग अपने रूप में बना रहता है, दूसरे भाग से भूतों का विकास होता है। इस क्षरपुरुष की भी ५ कलाएँ हैं—प्राण, आप, वाक्, अन्नाद और अन्न। प्राण ऋषि है। प्राणों से आपः की उत्पत्ति होती है। आधिदैविक स्तर पर क्षरपुरुष के भी वे ही पाँच कलाएँ हैं जो अक्षरपुरुष की हैं, अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम—इन्हीं ५ कलाओं से ५ मण्डल उत्पन्न होते हैं, जो आधिभौतिक है, जिन्हें स्वयम्भू परमेष्ठी, सूर्य, पृथ्वी और चन्द्र कहा जाता है। इनसे ५ आध्यात्मिक कलाएँ उत्पन्न होती हैं—बीज-चिति (कारण-शरीर), देव-चिति (सूक्ष्म-शरीर), भूत चिति (स्थूल शरीर), प्रजा (सन्तति) और वित्त (सम्पत्ति)। इन पाँच-पाँच

कलाओं का सम्बन्ध इस प्रकार है—

कला	आधिदैविक	आधिभौतिक	आध्यात्मिक
प्राण	ब्रह्मा	स्वयम्भू	बीज-चिति (कारण-शरीर)।
आप	विष्णु	परमेष्ठी	देव-चिति (सूक्ष्म-शरीर)
वाक्	इन्द्र	सूर्य	भू-चिति (स्थूल-शरीर)
अन्नद	अग्नि	पृथ्वी	प्रजा (सन्तति)
अन्न	सोम	चन्द्रमा	वित्त (सम्पत्ति)

हमारी दृष्टि में इनमें से वाक् से अन्न पर्यन्त केवल अन्तिम तीन ही आते हैं, शेष दो सूक्ष्म हैं। अतः उनका अनुमान ही करना पड़ता है।

माया की मितिकरणशक्ति के कारण शुद्धचैतन्य जब उपहित होता है तो वह ईश्वर कहलाता है। सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता आदि विशेषणों से विशेषित यह ईश्वर ही जगत् का कारण है। जीव का कारण शरीर, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पाँच क्लेशों से युक्त है, किन्तु ईश्वर उनसे मुक्त है। जीव अर्द्धवर्तुलरूप है, इसलिये अल्पज्ञ है। ईश्वर पूर्णवर्तुलरूप है, इसलिये सर्वज्ञ है। पञ्चपर्वाविश्व ही ईश्वर का शरीर है। ईश्वर परमेश्वर और जीव के बीच का सेतु है। यही सबका कारण है। ईश्वर ही उपासना का विषय है। उसकी बुद्धि अपरिमित है, मन स्थिर है।

वेदान्त में ईश्वर और जीव के बीच तादात्म्यसम्बन्ध बहुत विस्तार से बताया गया है। वेद की सहायता से इस तादात्म्य को अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। जीव का शरीर तो हमें दिख ही रहा है; ईश्वर का शरीर विश्व है। विश्व में तीन त्रिलोकी हैं—रोदसी, क्रन्दसी और संयती। मनुष्य के शरीर में पैर से हृदय तक रोदसी है, हृदय से तालुमूल तक क्रन्दसी है और तालुमूल से ब्रह्मरन्ध्र तक संयती है। इस प्रकार ईश्वर और जीव के बीच का तादात्म्य विश्व और शरीर के तादात्म्य की दृष्टि से भी स्पष्ट होता है।

सृष्टि का उपादानकारण क्षरपुरुष ही है। अक्षर अपरिणामी है, क्षर परिणामी है। शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि सब कुछ जल में ओतप्रोत है—जल वायु में, वायु आकाश में, आकाश अन्तरिक्ष लोक में, अन्तरिक्ष द्यौलोक में, द्यौलोक आदित्यलोक में, आदित्यलोक चन्द्रलोक में, चन्द्रलोक नक्षत्रलोक में, नक्षत्रलोक देवलोक में, देवलोक गन्धर्वलोक में, गन्धर्वलोक प्रजापतिलोक में तथा प्रजापतिलोक ब्रह्मलोक में स्थित है।

१. इदं सर्वमप्यु ओतं च प्रोतं च। आपो वायो। वायुराकाशे। आकाशोऽन्तरिक्षलोकेषु।  
ते द्युलोके। स आदित्यलोकेषु। ते चन्द्रलोकेषु। ते नक्षत्र लोकेषु। ते देवलोकेषु। ते गन्धर्वलोकेषु।  
प्रजापतिलोकेषु (शतपथ ब्राह्मण १४-५-४-१)।

ईश्वर के शरीर में जिन्हें हम चन्द्रमा, पृथ्वी, सूर्य, परमेष्ठी और स्वयम्भू कहते हैं, जीव के शरीर में वे ही क्रमशः अन्न, अन्नाद, वाक्, आपः और प्राण कहे जाते हैं। इन पाँचों के तीन-तीन विवर्त हैं। प्राण के तीन विवर्त हैं—विद्या, काम और अविद्या। आप के तीन विवर्त हैं—तेज, आपः, और अन्न। वाक् के तीन विवर्त हैं इन्द्र, वायु और अग्नि। अन्न के तीन विवर्त हैं—यज्ञ, मह और भग। ये तीनों अग्निमय देव हैं। इनके परिग्रह से ज्ञान, क्रिया और अर्थ बनते हैं। जिनसे प्रज्ञा-मात्रा, प्राणमात्रा और भूतमात्रा का निर्माण होता है। तेज, जल और अन्न अस्थि, मूत्र और मल से जुड़े हैं। वाक्, प्राण और मनः मज्जा, रक्त और मांस से जुड़े हैं। इस प्रकार स्थूलशरीर का निर्माण होता है। तेज, आपः और अन्न से सूक्ष्म, मध्यम, और स्थूल का निर्माण होता है। इस प्रकार प्रत्येक पुरुष में क्षर के समस्त रूप मिलते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम—अक्षर की इन पाँच कलाओं को रखने वाला क्षर आत्मक्षर कहलाता है। इन्हीं का विकार क्रमशः प्राण, आपः, वाक् अन्नाद और अन्न है। दर्शन में पञ्चीकरण की प्रक्रिया प्रासिद्ध है। पञ्चीकरण का अर्थ है कि किन्हीं भी पाँच तत्त्वों में से किसी एक तत्त्व का आधा भाग तथा शेष आधे में बाकी बचे हुए चार तत्त्वों का बराबर-बराबर भाग मिलाकर एक ऐसा रूप दे देना जिसमें पाँच तत्त्वों में से किसी एक तत्त्व का भाग सर्वाधिक रहे, किन्तु न्यूनमात्रा में शेष चार तत्त्वों का भी भाग रहे। दर्शन में पञ्चतन्मात्राओं में पञ्चीकरण की प्रक्रिया से पञ्चभूतों की उत्पत्ति प्रसिद्ध है, किन्तु वैदिक वाङ्मय पर दृष्टि डालने से यह पञ्चीकरण की प्रक्रिया बहुत विस्तार से समझ में आती है। यह पञ्चीकरण वस्तुतः पाँच स्तरों पर होता है—गुणों के पञ्चीकरण से अणु, अणु के पञ्चीकरण से रेणु, रेणु के पञ्चीकरण से भूत और भूतों के पञ्चीकरण से महाभूत बनते हैं। ये महाभूत ही पञ्चपर्वा विश्व को बनाते हैं। गुण की स्थिति में क्षरब्रह्म की पाँच कलाएँ हैं—प्राण, वाक्, आप, अन्न और अन्नाद। ये ही विश्वसृष्ट कहलाती हैं। ये विश्व का निर्माण करती हैं, इसलिये इन्हें विश्वसृष्ट कहा जाता है—*विश्वसृज इदं विश्वमसृजन्त। (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१२.९.८)*। इन पञ्च विश्वसृष्ट अथवा गुणों के पञ्चीकरण से पञ्च जन उत्पन्न होते हैं जिन्हें दर्शन में अणु कहा जाता है। ये पञ्चजन भी प्राण, वाक्, आप, अन्न और अन्नाद नाम से ही जाने जाते हैं। इन पञ्चजनों में तीसरी बार पञ्चीकरण होता है उतनी बार मूलतत्त्व का अंश कम होता है और यौगिकता अधिक होती जाती है। यह यौगिकता ही सूक्ष्म को स्थूल बनाती है। अब इन पञ्चजनों के पञ्चीकरण से पाँच पुरञ्जन बनते हैं, उनका नाम वेदपुरञ्जन, लोकपुरञ्जन, देवपुरञ्जन, भूतपुरञ्जन तथा पशुपुरञ्जन है। प्राण से वेद, आपः से लोक, वाक् से देव, अन्नाद से भूत तथा अन्न से पशु बनता है। पुरञ्जन-अवस्था में पदार्थ की झाँई सी दिखाई देती है। जब इन पुरञ्जनों में भी पञ्चीकरण होता है तो भूत बनता है। भूत बनते ही तत्त्व स्थूलरूप ले लेता है। इन भूतों के पञ्चीकरण से पञ्चमहाभूत बनते हैं जिनका नाम पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश है। ये ही पञ्चमहाभूत पञ्चपर्वाविश्व को बनाते हैं। पञ्चजन तक ब्रह्म अव्यक्त है। पुरञ्जन से लेकर महाभूत तक व्यक्त है। पञ्चीकरण की इस प्रक्रिया को ही पुरुषसूक्त में सर्वहुतयज्ञ कहा गया है। विश्व के जो पाँच पर्व हैं, उनमें क्रमशः क्षर की ही पाँच कलाएँ मुख्य हैं; अर्थात् स्वयम्भूमण्डल प्राणमण्डल है, परमेष्ठी आपोमण्डल, सूर्य वाङ्मण्डल, चन्द्र अन्नादमण्डल और पृथिवी अन्नमण्डल।

इन पाँचों पत्तों में स्रष्टा स्वयं प्रविष्ट है। इसे अग्नि, प्रजापति, इन्द्र अथवा प्राण भी कहते हैं। यह गुणों में परपुरुषरूप में है, अणुओं में अग्निरूप है, रेणु में प्रजापति है, भूतों में इन्द्र है और भौतिक पदार्थों में प्राण है—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ॥

इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ॥

जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥

(मनुस्मृति १२/१२३/१२४)

घट का दृश्यपक्ष वाक् है, वह क्षर है। घट की परिवर्तनशीलता प्राण है, वह अक्षर है। घट का ज्ञान मन है, वह अव्यय है। इस प्रकार तीनों पुरुष सब पदार्थों में रहते हैं। क्षर विश्व है, अक्षर विश्वकर्ता है, अव्यय विश्वसाक्षी है। प्रजापति का एक रूप अजायमान है, अनिरुक्त है, जिसका वर्णन यजुर्वेद में इस प्रकार है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् हतस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

(यजुः संहिता ३१.१९)

यह प्रजापति सर्वव्यापक है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

(ऋग्वेद १०.१२१.१०)

## क्षर

अव्यय का अमृतभाग अक्षर है, मर्त्यभाग क्षर है। क्षर सबका उपादान है। विकार तीन प्रकार के हैं—दिक्, देश, काल। संख्यादि भातिसिद्धविकार औपपादिक कहलाते हैं। शुक्र, शोणित इत्यादि विकार जो दूसरे के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं औपसर्गिकविकार कहलाते हैं। दूध में मलाई, लोहे में जंग इत्यादि स्वयं से उत्पन्न होने वाले विकार औपजनिकविकार कहलाते हैं। क्षर क्षीण होता है, किन्तु नष्ट नहीं होता, क्योंकि इसे अव्यय से सदा रस मिलता रहता है।

## क्षरपुरुष

क्षर अन्न है, अक्षर अन्नाद। अक्षर भोक्ता है, क्षर भोग्य। क्षर-अक्षर दोनों का आधार अव्यय है इसलिए इसे आवपन भी कहा जाता है। क्षर से और कुछ उत्पन्न नहीं होता, क्षर ही उत्पन्न होता है। क्षर के पाँच विकार हैं—बीजचिति, देवचिति, भूतचिति, प्रजा और वित्त। इनका ही दूसरा नाम प्राण, आप, वाक्, अन्नाद और अन्न है।

अक्षर प्राणरूप है, उसमें विद्या और अविद्या दोनों समान मात्रा में है। इसी में जब बल

अधिक बढ़ता है तो वह क्षर हो जाता है, उसमें अविद्या प्रधान हो जाती है। यह अविद्या कामना को और कामना कर्म को जन्म देती है। ये तीनों वीर्य तथा शुक्र से मिलकर बीजचिति कहलाते हैं। यही कारणशरीर है। इसके पाँच अंश हैं—अविद्या, काम, कर्म, वीर्य तथा शुक्र। इस कारणशरीर से ही पदार्थों की सृष्टि होती है। कारणशरीर के अनन्तर सूक्ष्मशरीर आता है। यही देवचिति है। ये देवचितियां पाँच हैं—अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और सोम। अग्नि की प्रधानता होने पर देवचिति बनती है, तो सोम की प्रधानता होने पर भूतचिति बनती है। आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आपः और आपः से पृथिवी उत्पन्न होने की प्रक्रिया का वर्णन वेदान्त करता है।

साङ्ख्य की पञ्चतन्मात्राएं गुणभूत हैं, वैशेषिक के परमाणु अणुभूत हैं। पञ्चीकरण की क्रिया रेणुभूत है और पञ्चीकरण से उत्पन्न होने वाला पञ्चभूत है। यही भूतचिति है, यही स्थूलशरीर है। ज्ञान से मनश्चिति, शब्द से वाक्चिति और क्रिया से प्राणचिति होती है। प्राण पर शुक्र, मज्जा, अस्थि, मेद, मांस, असूक्, रस, त्वचा और रोम की चिति स्थूलशरीर बनाती है।

क्षरपुरुष के विकार प्रजा कहलाते हैं। जिनमें हमारी आत्मीयबुद्धि रहती है और प्रजा के संरक्षण में रहने वाले पदार्थ वित्त कहलाते हैं। धन इत्यादि वित्त हैं, सेवक, पशु आदि चेतनवित्त हैं।

इस प्रकार क्षरपुरुष की कलाओं में से बीजचिति अथवा कारणशरीर के पाँच अंश हैं—अविद्या, काम, कर्म, वीर्य और शुक्र। देवचिति अथवा सूक्ष्मशरीर के भी पाँच अंश हैं—अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और सोम। भूतचिति स्थूलशरीर के पाँच अंश है—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी। जिनमें हमारी आत्मीयबुद्धि है ऐसे समस्त चेतन पदार्थ प्रजा तथा जड़ पदार्थ वित्त हैं।

## शरीर के भाग

वैदिक मत में स्थूलशरीर चार भागों में बँटा है—शिरोगुहा, उरोगुहा, उदरगुहा और वस्तिगुहा। इनमें से प्रत्येक को सात भाग हैं; शिरोगुहा में दो कान, दो नेत्र और नासिका और मुख। इनमें कान पक्षरूप हैं, नेत्र और नासिका आत्मरूप हैं तथा मुख पुच्छस्थानीय है। उरोगुहा में दो हाथ पक्ष-स्थानीय हैं, दो फुफ्फुस और दो स्तन आत्मस्थानीय हैं तथा हृदय पुच्छस्थानीय है। उदरगुहा में दक्षिण और वाम आँतें पक्षस्थानीय हैं। यकृत, प्लीहा, आमाशय और पक्वाशय आत्मस्थानीय हैं नाभि पुच्छस्थानीय है। बस्तिगुहा में दो चरण पक्षस्थानीय हैं, लिङ्ग से सम्बद्ध दो छिद्र तथा दो अण्डकोश आत्मस्थानीय है तथा गुदा पुच्छ रूप है। इस प्रकार चारों गुहाओं में सात-सात प्राण हैं। इनमें आत्मस्थानीय के नष्ट होने पर स्वरूप बना रहता है, किन्तु पक्ष और पुच्छ के नष्ट होने पर भी स्वरूप नष्ट नहीं होता।

क्षरपुरुष का ही विस्तार विश्व है। अगले अधिकरण में हम उसी विश्व की चर्चा विस्तार से करेंगे, यद्यपि प्रसङ्गवश विश्व की कुछ चर्चा अब तक के भी अधिकरणों में आ चुकी है।



## तृतीय अध्याय

### विश्वाधिकरण

#### विश्व शब्द का अर्थ

विश्व का अर्थ है जिसमें आत्मा प्रविष्ट है—*विशत्यत्र आत्मा, तद् विश्वम्* । (तैत्तिरीय उपनिषद्) में कहा गया है—*तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् (तैत्तिरीयोपनिषद् २/६)* । यही बात भागवत में इस रूप में कही गयी है—*विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रम् (भागवत ३/१०/१२)* । वैदिक वाङ्मय में विश्व की यही परिभाषा विश्व की अवधारणा के मूल में है । इसी की व्याख्या हम प्रस्तुत अधिकरण में करेंगे । संस्कृत भाषा में विश्व शब्द सर्व का वाचक है । शतपथ ब्राह्मण में यह बात कही गयी है—*यद्वै विश्वं सर्वं तत् (शतपथ ब्राह्मण ३/१/२/११)* । समस्त पदार्थों का समुच्चय विश्व है इसलिए विश्व शब्द का अर्थ सर्व मान लिया गया है । सर्व शब्द अनेकों का समूह है । जब सबकी पूर्णता बतलानी होती है तो सर्व शब्द का प्रयोग होता है—*अनेकेषामशेषत्वं सार्व्यम्* । जब एक की पूर्णता बतलानी होती है तो कृत्स्न शब्द का प्रयोग होता है—*एकस्य अशेषत्वं कात्स्न्यम्* । हिन्दी में 'सर्व' को 'सब' कहेंगे, 'कृत्स्न' को 'पूरा' कहेंगे । विश्व शब्द 'सर्व' को बतलाता है ।

#### त्रिविध सृष्टि

मन, प्राण और वाक् की दृष्टि से सृष्टि तीन प्रकार की है । मन-प्रधान सृष्टि ज्ञानमय है, प्राण-प्रधान सृष्टि क्रियामय और वाक्-प्रधान सृष्टि अर्थमय है । जिस प्रकार मन, प्राण और वाक् की प्रधानता से क्रमशः अव्यय, अक्षर और क्षर पुरुष बनते हैं, उसी प्रकार मन, प्राण और वाक् की प्रधानता से क्रमशः भावसृष्टि, प्राणसृष्टि और भूतसृष्टि बनती है ।

जो सृष्टि कामना से उत्पन्न होती है वह भाव सृष्टि है । इसे ही ज्ञान सृष्टि, मानसी सृष्टि आदि कहा जाता है । यह अव्यय पुरुष के श्वेवसीयस् मन की सृष्टि है । इसका आकार नहीं है ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।

मदभावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ (गीता १०/६)

अक्षर पुरुष से गुणसृष्टि होती है जिसे देवसृष्टि, तन्मात्रासृष्टि आदि कहा जाता है। दार्शनिक जिन्हें गुण, अणु, रेणु अथवा भूत कहते हैं वे सब इसी में समाविष्ट हैं। क्षर पुरुष से विकारसृष्टि होती है जिसे अर्थ-सृष्टि, भूत-सृष्टि, पशु-सृष्टि, मैथुनी-सृष्टि आदि कहा जाता है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।

विकारांश्चगुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ (गीता १३/१९)

इनमें भावसृष्टि का स्वयम्भू, गुणसृष्टि का सूर्य तथा भूतसृष्टि की पृथ्वी अधिष्ठाता है। प्रथम पूर्ण सर्ग है, द्वितीय प्राकृत सर्ग है तथा तृतीय वैकारिक सर्ग है। प्रथम में विभूति, द्वितीय में योग तथा तृतीय में बन्ध सम्बन्ध है।

### विराट् पुरुष

सृष्टि जिन दो पदार्थों के संसर्ग से होती है उन्हें परात्पर की स्थिति में रस तथा बल कहा जाता है। यही दोनों क्रमशः ब्रह्म के स्तर पर स्थिति और गति तथा मैथुनी सृष्टि के स्तर पर स्नेह और तेज कहलाते हैं। रस और स्थिति से समन्वित स्नेह भृगु है, बल और गति से समन्वित तेज तत्त्व अङ्गिरा है।

आपः, वायु और सोम भृगु के घन, तरल और विरल रूप हैं। अग्नि, यम और आदित्य अग्नि के घन, तरल और विरल रूप हैं। इनमें भृगु के कारण संकोच होता है और अंगिरा के कारण विकास रूप। इन दो के समन्वय से ही सृष्टि बनती है—*द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति शुक्लञ्चैव आर्द्रञ्चैव । यच्छुष्कं तदाग्नेयम् । यदार्द्रं तत्सौम्यम् (शतपथ ब्राह्मण १/६/३/२३) ।*

विकास की ओर जाने वाले अग्नि, यम और आदित्य हैं; जहाँ तक परिधि होती है वहाँ तक विकास करते हैं। इसके अनन्तर इसका केन्द्र से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है इसलिए ये पुनः केन्द्राभिमुख होकर संकोचशील बनते हुए आपः, वायु और सोम बन जाते हैं। केन्द्र पर पहुंचकर जब ये संकोच की चरमावस्था में पहुंचते हैं तो केन्द्र में इनके लिए स्थान का अभाव हो जाता है और ये पुनः परिधि की ओर विकासशील हो जाते हैं। इस प्रकार अङ्गिरा भृगु में और भृगु अङ्गिरा में परिणत होता रहता है।

आपः, वायु और सोम नामक भृगु की तीन अवस्थाएँ अग्नि, यम और आदित्य नामक अंगिरा की तीन अवस्थाएँ मिलकर अथर्वाङ्गिरस वेद बनता है जिसे “सुब्रह्म” कहते हैं। यह ऋक्, साम और यजु की त्रयी में प्रवेश करता है। उपर्युक्त त्रयी में से यजुः के यत् और जू दो भागों में बदल जाने से यह त्रयी चार में परिणत हो जाती है। इस प्रकार तीन भृगु और तीन अंगिरों से मिलकर त्रयी के चार रूप, सूर्य के दशावयव कहलाते हैं।

अग्नि और जल के संयोग से ही हमारी पृथ्वी बनी है। इस पृथ्वी के आठ अवयव हैं। प्रथम अवयव आपः है। उसमें वायु के प्रवेश से फेन बनता है। जो द्वितीयावयव है, वही अग्नि के संयोग से क्रमशः मृत्, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयः और हिरण्य बनता है। यही पार्थिव सृष्टि है। इसके ये आठ अवयव हैं। पृथ्वी का देवता अग्नि है और अग्नि का छन्द गायत्री है। पृथ्वी

के आठ अवयव होते हैं इसलिए गायत्री छन्द के भी आठ ही अवयव होते हैं।

## क्रतु

ज्ञानतन्त्र में बलसुप्त है, प्राणतन्त्र में कुर्वद्रूप है और अर्थतन्त्र में निर्गच्छद्रूप है। जब तक मन और शरीर के बीच प्राण काम न करे; मन की इच्छा पूरी नहीं हो पाती। प्राण का यह योगदान क्रतु कहलाता है। मन में ज्ञान और इच्छा होती है। प्राण उसे क्रतु रूप में परिणत करता है और यह क्रतु ही कर्म बन जाता है।

जीवाधिकरण में विश्व के पाँच पर्वों का समतुलन अध्यात्म के पाँच पर्वों के साथ करते समय विश्व के पाँच पर्वों की चर्चा हमने की है। अब यहां विश्वाधिकरण में विश्व के उन पाँच पर्वों की चर्चा विश्व को केन्द्र में रख कर लेना उचित होगा। वैसे ब्रह्माधिकरण में भी क्षर पुरुष की पाँच कलाओं के पाँच बार पञ्चीकरण को बतलाते समय इन पाँच पर्वों का नामोल्लेख हमने किया है। त्रिषयप्रवेश में सप्तव्याहति, पञ्चपवा विश्व तथा तीन धामों के रूप में हमने विश्व को तीन प्रकार से विभक्त किया है।

## षड्भाव विकार तथा विश्व के पाँच पर्व

ध्यान देने की बात है विश्व में चार पर्व अण्डाकार हैं। अण्डाकार को वैदिक भाषा में त्रिनाभिक्र कहा गया है। अण्ड एक ऐसे वर्तुल के आकार का होता है जिसके तीन केन्द्र हैं। इसे दीर्घवृत्त भी कहते हैं। त्रिनाभिक्र का भी यही अभिप्राय है। इन सभी पर्वों के तीन केन्द्र हैं मन, प्राण और वाक्। स्वयम्भू मण्डल में अभी तीन केन्द्र नहीं बने इसलिये वह वर्तुलाकार ही है, अण्डाकार नहीं। प्रथम मण्डल परमेष्ठी है जो अण्डाकार है, जिसे अस्त्वण्ड कहा जाता है। स्वयम्भू ब्रह्म का अण्ड होने के कारण इसे ब्रह्माण्ड कहते हैं। यद्यपि षड्भाव विकारों में सर्वप्रथम 'जायते' आता है, किन्तु यह जीव की दृष्टि से है। ईश्वर की दृष्टि से सर्वप्रथम 'अस्ति' ही आता है, इसलिये प्रथम अण्ड परमेष्ठी मण्डल को अस्त्वण्ड कहा जाता है। स्वयम्भू तो अव्यक्त है, परमेष्ठी व्यक्ताव्यक्त है। व्यक्त सृष्टि का प्रारम्भ सूर्य से ही होता है। यह सूर्य दूसरा भावविकार है जिसे 'जायते' कहा जाता है। व्यक्त होने के कारण इस द्वितीय अण्ड को हिरण्यमयाण्ड कहा जाता है। तीसरा 'वर्धते' के भावविकार से जुड़ा भूपिण्ड है जो बढ़ने के कारण पोषाण्ड कहा जाता है। चौथा पृथिवी का महिमामण्डल है जो 'विपरिणमते' से जुड़ा है जिसे यशो अण्ड कहते हैं तथा अन्तिम पांचवा चन्द्रमा है जो 'अपक्षीयते' से जुड़ा है जिसे रेतो अण्ड कहते हैं। इन पाँच पर्वों को ही विश्व कहा जाता है। इनका निर्माण करने वाला स्वयम्भू है। वह विश्वकर्मा है तथा इन पाँचों पिण्डों में प्रविष्ट है।

एक पेड़ के उदाहरण से इन पाँच पर्वों को समझा जा सकता है। सृष्टिविद्या को अश्वत्थविद्या भी कहते हैं। बीज में वृक्ष का अव्यक्त रूप प्रथम अस्त्वण्ड रूप परमेष्ठी है। इसी का अङ्कुर के रूप में व्यक्त हो जाना द्वितीय हिरण्यमयाण्ड है, जिसका सम्बन्ध जायते से है। उस अङ्कुर का अपनी खुराक लेना तीसरा सोपान है जिसकी तुलना भूपिण्ड पोषाण्ड से की जाती है। चौथा अङ्कुर

का चारों तरफ फैल जाना वर्धते है जो यशो अण्ड है। यह बीज की महिमा है। यह भूपिण्ड का महिमामण्डल है। पाँचवा रूप वृक्ष में पुनः बीज का आ जाना है। इसे रेतो अण्ड कहते हैं, क्योंकि इसमें वह रेतस् अथवा शक्ति है जो दूसरे वृक्ष को जन्म दे देती है। इसका सम्बन्ध चन्द्रमा से है।

परमेष्ठी भृगु और अंगिरामय है। सूर्य अग्नि और मरीचि रूप है। भूपिण्ड के आठ अवयव ऊपर बताए जा चुके हैं। पृथ्वी भूपिण्ड का ही महिमामण्डल है और चन्द्रमा भूपिण्ड का प्रवर्ग्य है। अग्नि विस्तार दे कर पदार्थों को सूक्ष्म बनाता है। सोम सङ्कोच द्वारा पदार्थों को घनीभूत करता है।

अक्षर की पाँच कलाओं में ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र नभ्य प्राण कहे जाते हैं। अग्नि और सोम पृष्ट्य प्राण कहे जाते हैं। इन्द्र, अग्नि और सोम महेश्वर नाम से विख्यात हैं। ये तीन शिव के नयन हैं। इन्द्र प्राण प्रधान सूर्य, सोमप्रधान प्राण चन्द्र और अग्नि ये तीनों विश्व के तीन नयन हैं। ये तीनों ही ईश्वर हैं।

### लोक-धाम-पर्व-भावविकार-तालिका

वेदों में सात लोकों की भी चर्चा है और यहाँ हमने पाँच पिण्डों की चर्चा की है। इसके अतिरिक्त वेदों में तीन धामों की चर्चा भी है। वेद के इन सभी प्रमाणों को यदि एक तालिका में रखें तो समन्वित रूप इस प्रकार होगा—

सप्तलोक	तीन द्वावापृथिवी	तीन धाम	पाँच पिण्ड		
सत्यम्			स्वयम्भू	ब्रह्माण्डाधिष्ठाता	
तपः	संयती	परम		भावविकार	अण्ड
जनः			परमेष्ठी	अस्ति	अस्त्वण्ड
महः	क्रन्दसी	मध्यम			
स्वः			सूर्य	जायते	हिरण्यमयाण्ड
भुवः	रोदसी	अवम	चन्द्र	अपक्षीयते	रेतोऽण्ड
भूः			पृथिवी	विपरिणमते	यशोऽण्ड
			भू	वर्धते	पोषाण्ड

### पाँच पर्वों के पाँच महिमामण्डल

जिन पाँच पिण्डों की हमने चर्चा की है वे वाङ्मय हैं। दूसरी भाषा में वे पिण्ड रूप हैं। उन पाँचों का ही प्राणमय रूप अथवा महिमामण्डल भी है। मनोमय रूप भी है। स्वयम्भू का महिमामण्डल अथवा प्राणमय रूप परमाकाश है तथा उसका अधिष्ठाता विश्वकर्मा है। परमेष्ठी का प्राणमय रूप महासमुद्र है तथा उसका अधिष्ठाता प्रजापति है। सूर्य का प्राणमय रूप संवत्सर है तथा उसका अधिष्ठाता हिरण्यगर्भ है। पृथ्वी का प्राणमय रूप आन्द है तथा उसका अधिष्ठाता सर्वभूतान्तरात्मा है। चन्द्रमा का प्राणमय रूप नक्षत्र है तथा उसका अधिष्ठाता भूतान्तरात्मा है। पिण्ड पद है प्राणमय रूप पुनःपद अथवा महिमामण्डल है और अधिष्ठाता अधिष्ठान है। पद का सम्बन्ध

क्षर पुरुष से है महिमा मण्डल का अक्षर पुरुष से, और अधिष्ठान का अव्यय पुरुष से। इस प्रकार त्रिपुरुष का सम्पूर्ण सृष्टि से सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। इनमें पिण्ड ही भू है और महिमा मण्डल ही द्यौं लोक है।

## सात लोक

सात लोकों में प्रत्येक लोक के अलग अलग प्राण हैं। भू का अग्नि, भुवः का सुब्रह्म, स्वः का सविता, महः का मित्र, जनः का वरुण, तपः का अर्यमा तथा सत्यम् का वेद प्राण है। प्राण ही देव है।

इन पाँच पर्वों में स्वयम्भू विश्व का शीर्ष है, सूर्य अक्ष है और पृथ्वी पाद है, जिनका संकेत पुरुष सूक्त के प्रथम मन्त्र की प्रथम पंक्ति में है—*सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्*। ये तीनों मण्डल अग्नि रूप हैं, सत्य रूप हैं। स्वयम्भू और सूर्य के बीच परमेष्ठी मण्डल ऋत रूप है तथा सूर्य और पृथ्वी के बीच चन्द्रमण्डल भी ऋत रूप है। इस प्रकार तीन अग्नि प्रधान मण्डलों के बीच दो सोमप्रधान मण्डल हैं। अग्नि सत्य का प्रतिनिधि है, ऋत सोम का प्रतिनिधि है। इन दो के सम्मिश्रण से ही सृष्टि बनी है इसलिये ऋग्वेद के अधमर्षण सूक्त में सर्वप्रथम ऋत और सत्य के उत्पन्न होने की चर्चा है।

## ऋत-सत्य

पुरुष के श्रम से तप द्वारा ऋत सत्य उत्पन्न हुआ। सत्य त्रयी ब्रह्म है, ऋत सुब्रह्म है। सत्य स्वयंभू है। ऋत परमेष्ठी है। ऋत ने सत्य को अपने गर्भ में रख लिया। इस प्रकार परमेष्ठी प्रधान हो गया। इस ऋत परमेष्ठी से आपोमयी रात्रि का विकास हुआ। यही अर्णव समुद्र है। स्वयंभू का सत्य समुद्र भास्वान् है, परमेष्ठी का रात्रि समुद्र सरस्वान् है। रोदसी त्रिलोकी का समुद्र अर्णव समुद्र है। अर्णव समुद्र से अग्नि मण्डल का विकास हुआ। यही संवत्सर है। तदनन्तर अहोरात्र बना और फिर तीन लोकों की सृष्टि हुई।

*ऋतं च सत्यं चाभीद्भ्रातृपसोऽध्यजायत ।  
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥  
समुद्रादर्णवादाधि संवत्सरो अजायत ।  
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥  
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।  
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥*

(ऋक् संहिता, १०.१९०.१, २, ३)

ऊपर हमने ऋत-सत्य की चर्चा की है। हृदय सहित सशरीर पदार्थ सत्य है। हृदय रहित पिण्डावस्था शून्य पदार्थ ऋत है। सम्पूर्ण पिण्ड अग्नि से बनते हैं। सोम तरल पदार्थ है। वह भी अग्नि में आकर पिण्ड रूप में परिणत हो जाता है। अग्नि सत्य है, सोम ऋत है।

## सोम

पिण्ड से निकलने वाली रश्मियां नियत स्थान में विचलित नहीं होती। पूर्व दिशा की रश्मि पश्चिम दिशा में कभी नहीं जाती। इसलिये हम पिण्ड को सत्य कहते हैं। इसके विपरीत ऋत बाधा आने पर अपना स्थान बदल लेता है। यदि पानी के आगे हाथ लगा लें तो पानी लौटता नहीं बल्कि इधर उधर होकर चला जाता है। पानी, वायु और सोम तीनों ही ऋत की अवस्थाएं हैं। घन अवस्था पानी है, तरल अवस्था वायु है, विरल अवस्था सोम है। इनमें अत्रि प्राण केवल जल में है। इसलिये जल हमें दिखाई देता है; सोम और वायु अत्रि प्राण के अभाव में हमें दिखाई नहीं देते। सूर्य में ३३ आग्नेय देवता हैं; उन्हीं से देवताओं की उत्पत्ति होती है। इसीलिये देवता सत्य मार्ग का ही अनुसरण करते हैं। मनुष्यों की उत्पत्ति सोम से होती है। यह सोम ही महान् है। इस पर ही अव्यय पुरुष के चित् का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसलिये मनुष्य में सोम भाव प्रधान है। इसलिये वह सत्य का अनुसरण नहीं कर सकता।

चन्द्र मण्डल का सोम श्रद्धा है। श्रद्धा स्नेह से युक्त है। मनुष्य का श्रद्धा भाव चान्द्र रस की ओर झुक जाता है। वह उसी से बंध जाता है। इसी श्रद्धा की महिमा बताते हुए उपनिषद् कहता है—

“तं यथायथोपासते, तथैव भवति” (छांदोग्य-उपनिषद्)

गीता भी इसी बात का प्रतिपादन करती है—

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ (गीता ३/३)

श्रद्धा से सोम उत्पन्न होता है। सोम से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न, अन्न से रेत और रेत से पुरुष। इस प्रकार पुरुष में सोम तत्व ही प्रधान है। इसलिये कहा गया है—*सत्यसंहिता वै देवाः, अनृतसंहिता मनुष्याः*। जैसे प्राण में प्राण के अभाव के कारण उसे असत् कहा जाता है वैसे ही ऋत के अभाव के कारण उसे अनृत कहा जाता है। मनुष्य सत्य नहीं बोल सकता क्योंकि वह अनृत रूप है। जब हम सत्य बोलने की बात कहते हैं तो वहां सत्य का अर्थ आंखों से देखा होता है—“*चक्षुर्वै सत्यम्*”। इसी की व्याख्या है—*एतद् वै मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुः*। प्रज्ञान आत्मा अथवा सर्वेन्द्रिय मन ऋत रूप है क्योंकि इसमें चान्द्र सोम की प्रधानता है। विज्ञान सूर्य रूप है, अतः वह सत्य रूप है। परमेष्ठी भी ऋत रूप है। उसमें भृगु और अंगिरा दो तत्व रहते हैं। ये दोनों आपः हैं अतः कहा जाता है ‘*ऋतमेव परमेष्ठी*’। जो स्थूल जल है वह परमेष्ठी के अम्भ नामक वायु रूप पानी और पवमान के रासायनिक मिश्रण से उत्पन्न होता है। अम्भः परमेष्ठी का जल है, मरीचि सूर्य का जल है, श्रद्धा चन्द्रमा का जल है। पार्थिव पानी को मरः कहते हैं। आपोमय परमेष्ठी मण्डल में सूर्य एक बुदबुदे के समान है। आपोमय परमेष्ठी समुद्र का ही रूप आकाश की नीलिमा के रूप में दिखाई देता है।

आप्य प्राण असुर हैं, सौम्य प्राण पितृ हैं। आप्य प्राण सौर-आग्नेय-प्राण के शत्रु हैं। सौम्य प्राण उपकारक हैं। परमेष्ठी मण्डल में असुर प्राणों की सत्ता है। वहां अन्धकार ही अन्धकार है। मन ऋत सोमात्मक है। इसीलिये वह चंचल है। ऋताग्नि और सोम के सम्बन्ध से ही ऋतु का निर्माण होता है।

विशुद्ध सत्य-आत्मा है अमृत विश्व है। सत्य में भी अमृत और मर्त्य का समन्वय है। शतपथ कहता है—

“आप एवेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म प्रजापतिः प्रजापतिर्देवान्। ते देवाः सत्यमित्युपासते। तदेतत् त्र्यक्षरमिति। “स”—इत्येकमक्षरं, “ती”—त्येकमक्षरं, “अम्”—इत्येकमक्षरम्। प्रथमोत्तमेश्वरे सत्यं, मध्यतोऽनृतम्। तदेतदनृतं सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति, नैवं विद्वांसमनृतं हिनस्ति”—(शतपथ ब्राह्मण १४/८/६/२)

अंगिरा सत्य रूप है। यही अंगिराकण सूर्य रूप में परिणत होता है। “तद्यत् तत् सत्यं, असौ स आदित्यः (शत. १४/८/५)। सत्यं शब्द में विकार स्पष्ट नहीं है, किन्तु सुनाई पड़ता है। यह विकार ही स्पष्ट विश्व है। यही मर्त्य रूप है। जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है—

“तस्य वा एतस्य ब्रह्मणो नाम-“सत्य”मिति। तानि वा एतानि त्रीण्यक्षराणि “सतिय”मिति। तद्यत्-“सत्”-तदमृतम्। अत्र यत्-“ति”-तन्मर्त्यम्। अथ यत्-“यं”-तेनोभे यच्छति। यदनेनोभे यच्छति, तस्मात्-यं-अहरहर्वा एवैवित् स्वर्गं लोकमेति।—(छान्दोग्य उपनिषद् ८/३/५)

अभिप्राय यह है कि अमृत और मृत्यु दोनों का समन्वय अभ्युदय का कारण है। सत्य सत् स्वरूप है, ऋत असत् स्वरूप है। ऋत सत्य पर प्रतिष्ठित है, किन्तु मौलिक रूप से सत्य का विकास ऋत से हुआ। परमेष्ठी इसी दृष्टि से सूर्य से भी परम स्थान पर है।

## ऋतु

ऋताग्नि में सोम की आहुति होने से अग्नीषोमात्मक जो अपूर्व भाव उत्पन्न होता है वही ऋतु कहलाता है। सोम स्नेह गुण वाला ऋत धरातल है। इसमें अग्नि के उदग्नाभ निग्नाभ के तारतम्य से पाँच भाग होते हैं—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद तथा हेमन्त। हेमन्त और शिशिर का एक में ही अन्तर्भाव हो जाता है। वसन्त और ग्रीष्म मिलकर ग्रीष्म कहलाते हैं। शरद और हेमन्त मिलकर शीत कहलाते हैं। इस प्रकार चार-चार महीने के तीन विभाग हैं। ग्रीष्म का चौमासा अग्नि प्रधान है। वर्षा का चौमासा अग्नीषोमात्मक है तथा शीत काल का चौमासा सोम प्रधान है। वर्षा में सभी ऋतुओं का समावेश हो जाता है। इसलिए संवत्सर को वर्ष कहा जाता है—

“स वै वर्षास्वाधीत। वर्षा वै सर्वं ऋतवः। अथादो वर्षकर्मादो वर्षकुर्म, इति सम्बत्सरान् पश्यति। वर्षा ह त्वेव सर्वेषामृतूनां रूपम्। उत हि तद्वर्षासु। भवति यदाहुः-ग्रीष्मऽइव-वाऽद्य” इति। उतो तद्वर्षासु भवति यदाहुः- शिशिर इव वा अद्य इति, वर्षादिद्वर्षाः, अथैतदेव परोक्षं.... तद्ग्रीष्मस्य। यद्वर्षति तद्वर्षाणाम्। यद्विद्योतते-तच्छरदः। यद्वृष्ट वा उद्गृह्णाति - तद्वेमेन्तस्य। वर्षाः सर्वंऋतवः। ऋतून् प्राविशत् (शतपथब्राह्मण २.२.३.७-८)

पाँच ऋतुओं के हिसाब से एक-एक ऋतु में ७२ अहोरात्र हैं—इन ७२ अहोरात्रों के तीन विभाग हैं—सोलह, चालीस और सोलह। ये तीनों हैं—प्रातः सवन, माध्यन्दिनसवन तथा सायंसवन। इनमें प्रथम बाल्यावस्था है, द्वितीय युवावस्था है तथा तृतीय वृद्धावस्था है। ये पाँचों ऋतुयें सौर-संवत्सर यज्ञ का पाङ्कत अर्थात् पञ्चावयव रूप है। इस संवत्सर यज्ञ से ही वर्षा होती है। इससे अन्न होता है और अन्न से रेत। इस प्रकार संवत्सर ही प्रजोत्पत्ति का कारण है। इसीलिये यज्ञ को 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' कहा जाता है।

दक्षिण से उत्तर की ओर जाने वाला अग्नि आर्तवाग्नि है। इसी से औषधियों का परिपाक होता है। यह अग्नि वायु रूप है। इसलिये ऋत है। ऋत सोम उत्तर से दक्षिण की ओर जाता है आर्तव अग्नि ही स्त्री को ऋतुमती बनाता है। यही ऋतु बनाता है। ऋत-अग्नि सौर-अग्नि का प्रवर्ग्य भाग है। ऋतसोम चान्द्रसोम का प्रवर्ग्य भाग है। पुरुष में अग्नि तत्व प्रधान है, स्त्री में सोम तत्व प्रधान है। अग्नि बलवान् है किन्तु उसकी बलवत्ता सोम पर ही निर्भर करती है। अग्नि सत्य है, सोम ऋत है। अग्नि विकास धर्मा है, सोम संकोच धर्मा है। संकोच बल की परिभाषा है, विकास निर्बल की परिभाषा है। सोम बल-घन है, किन्तु बलवान् नहीं है। इसी अपेक्षा से उसे निर्बल कहा जाता है। इसी अपेक्षा से स्त्री को भी निर्बल कहा जाता है, किन्तु वास्तविक बल स्त्री में ही है।

अग्नि और सोम का दक्षिण तथा उत्तर से बहना वायु पर निर्भर है, क्योंकि गति न अग्नि में है, न सोम में है। गति वायु पर निर्भर करती है। इसीलिये वायु को ऋत्विक् कहा जाता है। प्रजा के निर्माण में अग्नि और सोम का व्यय होता रहता है। इसे विस्त्रंशन कहते हैं। ऋताग्नि और ऋत सोम का अन्तर्यामसम्बन्ध होने से ऋतु बनती है।

भू केन्द्र से आरम्भ कर पार्थिव त्रिवृत्-पर्यन्त वसन्त ऋतु प्रतिष्ठित हुआ। त्रिवृत् से आरम्भ कर पञ्चदश स्तोम पर्यन्त ग्रीष्म ऋतु प्रतिष्ठित हुआ। पञ्चदश से आरम्भ कर एकविंश स्तोम पर्यन्त वर्षा ऋतु प्रतिष्ठित हुआ। एकविंश से आरम्भ कर त्रिणव (२७) स्तोम पर्यन्त शरदृऋतु प्रतिष्ठित हुआ। त्रिणव से आरम्भ कर त्रयस्त्रिंशस्तोमपर्यन्त हेमन्तशिशिर-नामक ऋतुयुग्म प्रतिष्ठित हुआ। इन पाँचों में ९-१५-२१- में व्याप्त वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-नामक तीन ऋतुभाव ऋताग्निप्रधान रहे, एवं २७-३३ में व्याप्त शरत् और हेमन्त शिशिर-नामक दो ऋतुभाव ऋतसोम प्रधान रहे।

इसी भाव को और अधिक विस्तार से इस तालिका द्वारा समझा जा सकता है—

दिग्भावाः	छन्दोभावाः	सामभावाः	स्तोमभावाः	ऋतुभावाः
प्राची	गायत्री	रथन्तर	त्रिवृत्	वसन्त
दक्षिणा	त्रिष्टुप्	बृहत्	पञ्चदश	ग्रीष्म
प्रतीची	जगती	वैरूप	सप्तदश	वर्षा
उदीची	अनुष्टुप्	वैराज	एकविंश	शरत्
ऊर्ध्वा	पङ्क्तिः	शाक्वररैवत	त्रिण-वत्रयस्त्रिंश	हेमन्तशिशिर



ऋत-अग्नि से सूर्य तथा ऋत-सोम से चन्द्रमा जुड़ा है। ऋतु के आधार पर ही यज्ञ का विधान है। उदाहरणतः चातुर्मास्य यज्ञ चतुर्मास पर आधारित है, दर्शपौर्णमास पक्ष पर आधारित है। वसन्त अग्नि का प्रस्ताव साम है, शिशिर निधन साम है। इन दोनों के बीच में वर्षा अग्नि का उद्गीथ साम है। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. पदार्थेषु-वसन् अग्निरेव-ग्रीष्मः (अग्नि का प्रस्ताव साम)
२. पदार्थेषु - उरू - अग्निरेव - वर्षाः (अग्नि का उद्गीथ साम)
३. पदार्थेभ्यः -शीर्ण- अग्निरेव - शरत्
४. पदार्थेभ्यः -हीनः अग्निरेव - हेमन्तः
५. पदार्थेभ्यः - विनिर्गतः अग्निरेव-शिशिरः (अग्नि का निधन साम)

वस्तुतः सभी ऋतुओं में सभी ऋतुओं का समावेश है। यदि हम और भी सूक्ष्म जायें तो यह कह सकते हैं कि एक अहोरात्र में ही छहों ऋतुएं हैं। इस प्रकार संवत्सर अनन्तकाल का प्रतिनिधित्व कर रहा है। तस्मादेकैकस्मिन्-ऋतौ सर्वेषाम् ऋतूनां रूपम् ।—(शतपथ ब्राह्मण ३.७.१.३-४) ।

शतपथ ब्राह्मण (४/३/१/२७) में मासों के नामों की व्याख्या हुई है। चैत्र का नाम “मधु” है, वैशाख का नाम “माधव है, समष्टि” वसन्त ऋतु” है। ज्येष्ठ “शुक्र” है, आषाढ़ “शुचि” है, समष्टि ग्रीष्म-ऋतु है, श्रावण “नभ” है, भाद्रपद “नभस्य” है, समष्टि “वर्षा-ऋतु” है, आश्विन “इट्” है, कार्तिक “ऊर्क्” है, समष्टि “हेमन्त ऋतु” है, माघ “तप” है, फाल्गुन “तपस्य” है, समष्टि “शिशिर-ऋतु” है।

ऋतु ही समस्त प्रजा का कारण है। मानव सृष्टि आत्ममूलक है। पशु सृष्टि ऋतुप्रधान है। सत्य एक से जुड़ा है, ऋत अनेक से जुड़ा है। इस एक अनेक को लेकर ही मनुष्य के साथ ऋतु शब्द एक वचन में तथा पशुओं के साथ ऋतु शब्द बहुवचन में आता है।

“ऋतुनेति वै देवाः-मनुष्यानसृजन्त, ऋतुधिरिति पशुन्। स यत्तन्मध्यमेन पशूनसृजन्त-तस्मादिमे पशव उभयतः परिगृहीता वशमुपैता मनुष्याणाम्”—(शतपथ ब्राह्मण ४/३/१/१२)

वसन्त आज्य है, ग्रीष्म इध्म तथा शरद् हवि है—

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।

वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥

(ऋक् संहिता १०/१०/६)

वसन्त अग्नि को घृत के समान जगाता है। ग्रीष्म समिधा के समान प्रज्वलित करता है। शरद् हवि की तरह पुष्ट बनाता है। इस प्रकार ऋतु विज्ञान द्वारा यज्ञविद्या को तथा प्रजनन प्रक्रिया को समझा जा सकता है।

सकेन्द्र को सत्य तथा केन्द्ररहित को ऋत कहा जाता है। पिण्ड के केन्द्र से, जो प्रजापति कहलाता है, पूरा पिण्ड आकृष्ट होता है। यह केन्द्र ही गर्भ कहलाता है। यह प्रजापति गर्भ में रहता हुआ अजायमान है। इसी पर हृदय अर्थात् गति, आगति और स्थिति टिकी हुई है। यह हृदय अन्तः रूप है। केन्द्र को पकड़ा नहीं जा सकता। केन्द्र परिवर्तित नहीं होता। पिण्ड परिवर्तित होता है। परिवर्तित होना ही 'बहुधा विजायते' है। परिवर्तित न होना ही 'अजायमान' है। केन्द्र योनि है। इसी में समस्त विश्व टिका हुआ है। जो पिण्ड के बारे में सत्य है, वही ब्रह्माण्ड के बारे में सत्य है। सत्य अमृत और मृत्यु का समन्वय है। केन्द्र अमृत है। वह भी सत्य है। पिण्ड मृत्यु है। वह भी सत्य है। हृदय का सत्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' है। पिण्ड का सत्य 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' है। पिण्ड से हृदय घिरा हुआ है। अमृत सत्य से घिरा है—

“तदेतत्-त्रयं सदेकमयमात्मा । आत्मा उ एकः सन्नैतत् त्रयम् । तदमृतं सत्येन छन्नम् प्राणो वा अमृतम् । नामरूपे सत्यम् । ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ।—(शतपथ ब्राह्मण १४/४/४/३/)

पिण्ड नामरूपात्मक है, केन्द्र पिण्ड की प्रतिष्ठा है। इसलिये उसे सत्य का सत्य कहा है। ज्ञान को ज्योतिसाम कहा है।

सत्य में ऋत की आहुति होती है। वह आहुत होकर सत्य रूप में ही परिणत हो जाता है। ऋत बलरूप है, किन्तु वह सत्य रूप रस में जाकर ही सत्य बनता है। अग्नि और सोम के ऋत और सत्य दो भाग हो जाते हैं। ऋत, अग्नि और सोम से संवत्सर का निर्माण होता है। सत्य, अग्नि और सोम से विश्व का निर्माण होता है। सत्य अग्नि सूर्य है। सत्य सोम चन्द्रमा है। सत्य सायतन है, ऋत निरायतन है। सृष्टि होती है ऋताग्नि सोम से। उसकी प्रतिष्ठा बनता है सत्याग्नि सोम।

## पिण्डों की गति

सत्य सूर्य के चारों ओर सत्य भू पिण्ड परिक्रमा लगा रहा है और सत्य भू पिण्ड के चारों ओर चन्द्रमा परिक्रमा लगा रहा है। परिस्थिति को देखने के तीन प्रकार हैं, जिन्हें सृष्टि मूला, स्थिति-मूला और दृष्टि-मूला कहा जाता है। सृष्टिमूलक विद्या के आधार पर स्वयम्भू को आधार माना जाता है। सूर्य को आधार मान कर स्थितिमूला विद्या चलती है और पृथ्वी को आधार मान कर दृष्टिमूला। सृष्टिविद्या के आधार पर पृथ्वी स्थिर है, सूर्य चल रहा है। स्थितिमूला विद्या के आधार पर सूर्य स्थिर है, किन्तु सृष्टि-मूला विद्या के अनुसार सूर्य और पृथ्वी दोनों ही घूम रहे हैं। सूर्य के चलने का प्रमाण है—

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च ।

हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

(यजुः संहिता ३३/४३)

किन्तु सूर्य के स्थिर रहने का भी स्पष्ट उल्लेख है— अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य-नैवोदेता नास्तमेता । एकल एव मध्ये स्थाता । न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन । देवास्तेनाहं सत्येन मा विराधिषि

ब्रह्मणा । न ह वा अस्मा उदेति, न निम्लोचति । सकृद्दिवा हैवास्मै भवति । (छान्दोग्योपनिषद् ३.११.१-३) ।

पृथ्वी के चलने का स्पष्ट उल्लेख है—

सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम् ।

देवत्रा रथ्योर्हिता (सामसंहिता पृ. ६/१) ॥

यह भ्रमण क्यों हो रहा है ? उसका उत्तर है—यज्ञ ने इन्द्र को बल प्रदान किया । उसी बल से सौर इन्द्र ने भूपिण्ड को ठोकर लगायी । उसी से पृथ्वी अब तक घूम रही है—

यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयत्, यद् भूमिं व्यवर्तयत् ।

चक्राण ओपशं दिवि (ऋक् संहिता ८/१४/५)

सृष्टिमूलक दृष्टि के अनुसार सूर्य भी परमेष्ठी के चारों ओर घूम रहा है । यह अयनवृत्त है जिस पर चलते हुए सूर्य अपनी परिक्रमा पच्चीस हजार वर्ष में पूरी करता है । इस परिक्रमा का आधार ध्रुव है । स्वयं परमेष्ठी भी आन्द नामक वृत्त पर स्वयंभू की परिक्रमा कर रहा है । स्वयंभू गतिमान् नहीं है, विशुद्ध गतिरूप है । विशुद्ध गति ही स्थिति बन जाती है । चन्द्र भी दक्षवृत्त पर भूपिण्ड की परिक्रमा लगा रहा है, भूपिण्ड क्रान्ति वृत्त पर सूर्य की परिक्रमा लगा रहा है, सूर्य अयनवृत्त पर परमेष्ठी की परिक्रमा लगा रहा है तथा परमेष्ठी आन्दवृत्त पर स्वयंभू की परिक्रमा लगा रहा है । चन्द्रमा परज्योति है, भूमि रूप ज्योति है । सूर्य स्वज्योति है परमेष्ठी ऋत पिण्ड है । स्वयंभू सत्यमूर्ति है । भूःभूमि है । सूर्य स्वः है । चन्द्रमा दोनों के बीच भुवः है । परमेष्ठी जनः है । स्वयंभू सत्य है । सूर्य और परमेष्ठी के बीच का स्थान महः है । स्वयंभू और परमेष्ठी के बीच का स्थान तपः है । इस प्रकार पाँच के स्थान पर सात विवर्त हो जाते हैं । इनमें छः गतिशील हैं, एक गतिरहित है—

अचिकित्वाँश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विदमने न विद्वान् ।

वियस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विवदेकम् ॥

(ऋक् संहिता १/६/६/)

स्वयंभू परमेष्ठी परमधाम है । सूर्य मध्यम भाग है । चन्द्रमा और भू पिण्ड अवमधाम है । इन तीन धामों का उल्लेख ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ८१ वें सूक्त में हुआ है—

या ते धामानि परिमाणि, यावमा, या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा ।

शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥

(ऋक् १०/८१/३)

तत्वों की भाषा में स्वयंभू ब्रह्मा है, परमेष्ठी विष्णु, सूर्य इन्द्र, पृथ्वी अग्नि और चन्द्रमा सोम । ये पाँच अक्षर हैं जिनसे पञ्च भौतिक क्षर संसार उत्पन्न हुआ । पाँच पर्वों की आधार भूमि अव्यय पुरुष है । अव्यय पुरुष की विद्या अश्वत्थ विद्या है । पञ्च पर्वों विश्व ब्रह्म वृक्ष का शाखा मात्र है । अश्वत्थ वृक्ष में ऐसी सहस्रों शाखाएँ हैं । शाखा को बल्शा कहते हैं । बल्शा के पाँच पुण्डरी हैं ।

इन पाँचों के अधिदेवता ऊपर बता दिये गये हैं—ता वा एताः प्रजापतेराधिदेवता असृज्यन्त-अग्निः (पृथ्वी), इन्द्रः (सूर्यः), प्सोमः (चन्द्रमा), परमेष्ठी, प्राजापत्यः (शतपथ ब्राह्मण ११/१/६/१४) ।

जीवाधिकरण में बता चुके हैं कि जिस प्रकार विश्व की पांच संस्थाएं हैं उसी प्रकार व्यक्ति में भी पांच संस्थाएं हैं—अव्यक्त, महान्, बुद्धि, मन, और शरीर—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ॥  
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः ॥  
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ॥  
पुरुषान्नापरं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

(कठोपनिषत् १/३/१०)

### पाँच पर्वों के तीन तीन मनोता

विश्व के पाँच पर्वों में प्रत्येक के तीन तीन मनोता हैं ।

यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्दस्ति ।

यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥

(छान्दोग्य उपनिषत् २/२१३)

प्रत्येक पर्व के तीन मनोता इस प्रकार हैं—स्वयंभू के वेद, सूत्र, नियति, परमेष्ठी के भृगु, अंगिरा, अत्रि, सूर्य के ज्योति, गौ, आयु, चन्द्रमा के रेतः, श्रद्धा, यश तथा भूपिण्ड के वाक्, गौ, द्यौ । इन पन्द्रह का विस्तार ही विश्व का विस्तार है ।

पाँच मण्डलों का एक ब्रह्माण्ड है । ऐसे अनन्त ब्रह्माण्ड विश्व में है । स्वयंभू मण्डल में अक्षर पुरुषों में ब्रह्मा, क्षर पुरुषों में प्राण और शुक्र में वाक् प्रधान है । परमेष्ठी मण्डल में, अक्षर पुरुषों में विष्णु, क्षर पुरुष में आपः और शुक्र में आपः प्रधान है । सूर्यमण्डल में अक्षर पुरुषों में इन्द्र, क्षर पुरुषों में वाक् और शुक्र में अग्नि प्रधान है । अग्नि की प्रधानता के कारण ही सूर्य इतना तेजस्वी है । चन्द्र मण्डल में अक्षर पुरुषों में सोम, क्षर पुरुषों में अन्न और शुक्र में आपः प्रधान है । पृथ्वी पिण्ड में अक्षर पुरुषों में अग्नि, क्षर पुरुषों में अन्नाद और शुक्रों में वाक् प्रधान है । चन्द्रमा अन्तरिक्ष में होने के कारण चौथे क्रम पर है, किन्तु वस्तुतः वह पाचवें क्रम पर है, क्योंकि उसकी व्याप्ति पृथ्वी के बाद है । स्वयम्भू मण्डल में पञ्च भूतों की अपेक्षा आकाश प्रधान है और शुक्र की अपेक्षा वाक् प्रधान है । इसी वाक् के रूप में तीन वेद हैं, जिन्हें ब्रह्मा का निःश्वसित कहा जाता है, क्योंकि स्वयम्भू सर्वत्र व्याप्त है इसलिए ये भी सर्वत्र व्याप्त हैं । परमेष्ठी मण्डल में वायुप्रधान है । वायु का सूक्ष्म रूप सोम तथा स्थूल रूप आपः है । इसलिए परमेष्ठी मण्डल को सोममय मण्डल या आपोमय मण्डल कह सकते हैं । परमेष्ठी मण्डल में भृगु, अंगिरा और अत्रि तीन प्राण हैं जो सारे विश्व में फैले हुए हैं । भृगु के तीन रूप हैं—सोम, वायु और आप । अंगिरा के भी तीन रूप हैं—अग्नि, यम और आदित्य । ये तत्व भी विश्व में सर्वत्र व्याप्त हैं । सूर्यमण्डल में अग्नि प्रधान है । इसके तीन तत्व हैं—ज्योति, गौ और आयु । ये भी पूरे विश्व में फैले हुए हैं । सूर्य का

इन्द्र प्राण सर्वत्र रूपों का निर्माण करता है—इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदत् । रूप वस्तुतः तेज का गुण है, किन्तु पञ्चीकरण के कारण यह जल तथा पृथ्वी में आ जाता है । सम्पूर्ण पदार्थों की आयु भी सूर्य के द्वारा निर्धारित होता है इसलिए श्रुति में इसे सम्पूर्ण जगत् का प्राण कहा गया है । भिन्न-भिन्न वनस्पतियों में जो रस का परिपाक होता है वह गौ तत्व के कारण है । चन्द्रमा सूक्ष्म जल का स्थान है । यह जल सोम की स्थूल अवस्था है । जहाँ शास्त्रों में चन्द्रमा को सूर्य से ऊपर बताया गया है वहाँ चन्द्रमा का अर्थ परमेष्ठी मण्डल है क्योंकि परमेष्ठी मण्डल में सोम ही प्रधान है । पृथ्वी में अग्नि मुख्य है । यह अक्षर पुरुष की कला है । पृथ्वी में इसका नाम अन्नाद है । यह पृथ्वी चन्द्र मण्डल से आने वाले सोम से पुष्ट होती है और यहां की औषधियों तथा वनस्पतियों का जीवन इसी से रहता है । इस पृथ्वी के जो तीन तत्व हैं—वाक्, गौ और द्यौ, ये तीनों प्राण पृथ्वी से ऊपर जाते हैं । वाक् तत्व के कारण सब पिण्डों में ठोसपन आता है । पृथ्वी प्राण का गौ-तत्व तथा सूर्य का गौ-तत्व मिलकर रस बनाते हैं ।

### तीन द्यावा पृथिवी

त्रिलोकी भी तीन भागों में बँटी है—२१ स्तोम तक प्रथम त्रिलोकी है जिसे रोदसी कहा जाता है । ३४ स्तोम तक क्रन्दसी है । रोदसी अग्नि से बनी है, क्रन्दसी सोम से बनी है । तीसरी त्रिलोकी संयती है जो २४ से ४८ स्तोम तक की है । ९ से २१ स्तोम तक विराट् मनु की त्रिलोकी है जिसका प्रथमलोक अग्नि, द्वितीय वायु और तृतीय आदित्य है । २७ से ३४ स्तोम तक हिरण्यगर्भ की त्रिलोकी है जिसमें तीन लोक चन्द्र, दिक्, और प्रजापति हैं । तीसरी त्रिलोकी स्वयंभू मनु की है, जिसमें इन्द्र, विष्णु और ब्रह्म लोक है । दूसरी त्रिलोकी में २७ स्तोम भास्वरसोम के हैं और ३३ तथा ३४ स्तोम दिक् सोम के हैं । यही तीन त्रिलोकी सात लोक बन जाते हैं, जिन्हें भूः भुवः स्वः कहा जाता है । स्वयंभू का पुनः पद परमाकाश है, परमेष्ठी का पुनः पद महासमुद्र है । सूर्य का पुनः पद संवत्सर है, पृथ्वी का पुनः पद आन्द है तथा चन्द्रमा का पुनः पद नक्षत्र है । पद उपादान है, पुनः पद निमित्त है । इन पाँचों का अधिष्ठान क्रमशः विश्वकर्मा प्रजापति, हिरण्यगर्भ, सर्वभूतान्तर-आत्मा और भूत-आत्मा है । ये पाँचों पिण्ड सर्ग हैं । इनका पुनः पद महिम सर्ग है और अधिष्ठान आत्मसर्ग है । इनके घूमने से दिति, अदिति भाव होता है । यही प्राकृतिक दर्शपूर्णमास है । सत्य तत्त्व अविचाली है । ऋक् तत्त्व विचाली है । स्वयंभू सूर्य और भूपिण्ड अविचाली है । परमेष्ठी और चन्द्रमा विचाली है । परमेष्ठी असुरप्राणप्रधान है, सूर्य देवप्राणप्रधान है । स्वयंभूमूला सृष्टि शिरोमूला है, सूर्यमूला सृष्टि हृदयमूला है और पृथ्वीमूला सृष्टि पादमूला है ।

इन समस्त लोकों में वाक् ओतप्रोत है । स्वयंभू की वाक् महाकाली है, परमेष्ठी की वाक् महालक्ष्मी है तथा सूर्य की वाक् महासरस्वती है ।

तीन त्रिलोकी में जो सात लोक हैं, वे तीन धामों में बांटे गये हैं—अवम, मध्यम और परम । इनमें भू में अग्निप्राण प्रधान है, भुवः में सुब्रह्म, स्वः में सविता, महः में मित्र, जनः में वरुण, तपः में अर्यमा और सत्य में वेद प्राण प्रधान है ।

### प्रकृति, आकृति तथा अहङ्कृति

तीन धाम, पाँच पर्व और सात लोकों के अतिरिक्त विश्व के अमृत मृत्युभेद से छः पर्व भी बन जाते हैं। स्वयम्भू, परमेष्ठी और सूर्य ये तीनों अमृतविश्व है। सूर्य, चन्द्रमा और पिण्ड ये तीनों मर्त्य विश्व हैं। विश्व के बीच में स्थित सूर्य अमृत रूप भी है और मर्त्यरूप भी। परमेष्ठी में पितरप्राण हैं और अमृत सूर्य में देव प्राण हैं। पार्थिव पितर प्राण से आकृति, चान्द्र देव प्राण से प्रकृति और ऋषिप्राण से अहङ्कृति बनती है।

आकृति से जाति का निर्माण होता है। प्रकृति से वर्ण बनता है और अहङ्कृति से गोत्र बनता है। आकृति के आधार पर मनुष्य जाति एक है क्योंकि जाति का ग्रहण आकृति से होता है, किन्तु वर्ण के आधार पर प्रकृति के भेद होने के कारण मनुष्य जाति चार भागों में बंटी है। वर्ण का आधार शरीर की आकृति नहीं, मन की प्रकृति है। अहङ्कृति का सम्बन्ध गोत्र से है। गोत्र और वर्ण को महत्त्व न देकर केवल जाति को महत्त्व देना मन और बुद्धि की उपेक्षा करके शरीर को महत्त्व देना है। एक ओर हम सभी मनुष्य आकृति की दृष्टि में एक ही मनुष्य जाति के हैं, किन्तु मन और बुद्धि की विशेषता के कारण भिन्न-भिन्न वर्ण और गोत्र के हैं, किन्तु आकृति, प्रकृति और अहङ्कृति तीनों से परे जो अव्ययात्मा है उस स्तर पर मनुष्य ही क्या प्राणिमात्र एक हैं, क्योंकि उसका सम्बन्ध न आकृति से है, न वर्ण से और न ही गोत्र से।

## चतुर्थ अध्याय

### कर्माधिकरण

ब्रह्माधिकरण में हमने ब्रह्मविज्ञान की चर्चा की और विश्वाधिकरण में भूत विज्ञान की। अब कर्माधिकरण में यज्ञ विज्ञान की चर्चा क्रम प्राप्त है क्योंकि भूत विज्ञान का आधार यज्ञविज्ञान है और यज्ञ विज्ञान का आधार ब्रह्म विज्ञान है। भूत विज्ञान का सम्बन्ध स्थूलशरीर से है, यज्ञ विज्ञान का सम्बन्ध सूक्ष्मशरीर से है और ब्रह्म विज्ञान का सम्बन्ध कारणशरीर से है। भूतविज्ञान एक और ब्रह्म विज्ञान से नियन्त्रित होता है दूसरी ओर यज्ञ विज्ञान से। ब्रह्म विज्ञान से नियन्त्रित होने के कारण हमारे कर्म विवेकपूर्ण होते हैं और यज्ञ विज्ञान से नियन्त्रित होने पर हमारे मन की कामनाओं को पूरा करते हैं। कुल मिलाकर वैदिकदृष्टि में कर्म को ऐसा होना चाहिये कि वह विवेकपूर्ण भी हो और साथ ही हमारी कामनाओं की पूर्ति करने वाला भी हो।

### कर्म विज्ञान

ज्ञान और क्रिया दोनों ही सर्वत्र व्याप्त हैं। इनमें ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा से है। क्रिया का सम्बन्ध यज्ञ से है। वस्तुतः यज्ञ का ज्ञान ही विज्ञान है—*विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्मापि च*। विज्ञान का अर्थ है—एक से अनेक हो जाना। यह यज्ञ द्वारा ही होता है इसलिए यज्ञ ही विज्ञान है। सृष्टि में एक महाक्रिया हो रही है, जिसका आधार भी सत्ता है। इस महाक्रिया की आधार भूत सत्ता को ही ब्रह्म कहते हैं। सत्ता के दो प्रकार हैं—१-पारमार्थिक सत्ता वह है जिसके लिए किसी दूसरी सत्ता की आवश्यकता नहीं है। २-अनित्य सत्ता वह है जिसके लिए किसी अन्य सत्ता की आवश्यकता है। ज्ञान शक्ति पारमार्थिक सत्ता है, क्रियाशक्ति अनित्यसत्ता है। एक क्रिया आती है दूसरी क्रिया चली जाती है। यही क्रियाशक्ति की अनित्यता है। वह धारारूप में प्रवहमान है। ज्ञान और क्रिया दोनों में मिथुनीभाव से सृष्टि बनी है। यही सृष्टि का मिथ्यात्व है।

### क्रिया के विविध प्रकार

ज्ञान क्रिया में सहायक है, क्रिया ज्ञान में सहायक है। इस प्रकार इन दोनों में परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव है। यदि हम संसार में उपलब्ध क्रियाओं पर ध्यान दें तो अनेक प्रकार की क्रियायें

उपलब्ध होंगी। उदाहरणतः जब कुम्भकार चक्र को चलाता है तो अवयवी स्थिर रहता है उसके अवयव चलते हैं। इसके विपरीत यदि कुम्भकार चक्र को अपने सिर पर उठाकर ले जाय तो अवयवी चलेगा किन्तु अवयव स्थिर रहेंगे। जब घोड़े रथ को खींचते हैं तो अवयवी चलता है और चक्र, जो रथ के अवयव हैं, वे भी चलते हैं, किन्तु रथ के कुछ अवयव निष्क्रिय भी रहते हैं। अनेक क्षणिक क्रियाओं से मिलकर महाक्रिया बनती है इसलिए एक मत यह भी है कि क्रिया ही क्रिया का आधार है। दूसरा मत यह है कि क्रिया का आधार क्रिया नहीं हो सकता अपितु क्रिया का आधार प्रकृति है, किन्तु पुरुष में कोई क्रिया नहीं होती, समस्त क्रिया प्रकृति में ही होती है। कर्म और क्रिया में यह भेद है कि जब क्रिया ज्ञानविशिष्ट होती है तो कर्म कहलाती है। इसी प्रकार क्रिया से विशिष्ट ज्ञान ब्रह्म है। जिस प्रकार क्रिया के अनेक रूप हैं उसी प्रकार ज्ञान के भी तीन रूप हैं—विषय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ब्रह्म है, संस्कार से उत्पन्न होने वाला ज्ञान विद्या है, शब्द से उत्पन्न होने वाला ज्ञान वेद है। ये तीनों ही ज्ञान हैं, इनका भेद उपाधिकृत है। इसलिए इन तीनों को एक दूसरे के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त कर दिया जाता है।

### निष्काम कर्म

वेद में तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। इनका सम्बन्ध क्रमशः शरीर, मन और आत्मा से है। प्रस्तुत अधिकरण में हमें कर्म का विवेचन करना है। कर्म शरीर में होता है। हमारा शरीर विराट् का अंग है। विराट् अंगी है। जैसे सभी अंग अंगी के लिए कर्म करते हैं, उसी प्रकार हमें भी कर्म अपने लिए न करके विराट् के सन्तोष के लिए करने चाहिये। इसे ही सामान्य भाषा में भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म करना कहा जाता है। यही निष्काम कर्म का भी स्वरूप है। इसी अभिप्राय को लेकर यज्ञ के समय दी जाने वाली आहुति के बाद यह कहा जाता है कि यह आहुति अमुक देवता के लिए यह मेरी नहीं है—*इदन्न मम*।

### यज्ञ का आधार

वेद का सिद्धान्त है कि जो देवताओं ने किया वही हम भी करें—*यद्देवा अकुर्वन्स्तत्करवाणि*। यज्ञ विज्ञान के आधार का भी यही सिद्धान्त है कि जैसा सृष्टि में चल रहा है उसी आधार पर वेद में यज्ञों का विधान है। प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण यज्ञ चल रहा है। वस्तुतः कर्म मात्र यज्ञ है और यह कर्म प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण हो रहा है—*न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्*। आज विज्ञान से यह सिद्ध हो गया है कि किसी परमाणु में भी कोई इलेक्ट्रॉन या प्रोटोन बिना गति के नहीं है। यदि गति न हो तो पदार्थ ही नष्ट हो जायें। क्वाण्टम सिद्धान्त के अनुसार समस्त विश्व क्वाण्टम अर्थात् ऊर्जा समूह से बना है। यह ऊर्जा समूह कभी स्थिर नहीं रहता। पदार्थों का नानात्व कर्म की विविधता के कारण ही है। इनमें जो अस्तित्व है वह प्रतिष्ठा है। उसे ही रस या ब्रह्म कहते हैं। उस अस्तित्व में जो उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय हो रहा है वही कर्म है। कर्म ही यज्ञ है। *पाङ्क्तो वै यज्ञः (शतपथ ब्राह्मण १.१.२.१६)* के नियमानुसार यज्ञ के पाँच भेद हैं—आदान, अर्पण, उत्सर्ग, भैषज्य और विकास।



## आदानयज्ञ

जीवात्मा अपनी रक्षा के लिये जो दूसरी जीवात्मा से ग्रहण करता है वह आदान है। यह क्रिया केवल चेतन पदार्थों में ही नहीं, जड़ पदार्थों में भी हो रही है। वनस्पति तो खाद और पानी के अभाव में मुरझा ही जाती है। सामान्यतः जड़ समझे जाने वाले पदार्थ भी यदि उन्हें हवा और धूप न मिले तो जीर्ण होने लगते हैं। इससे यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि वे जड़ पदार्थ भी हवा और धूप में अन्न का ग्रहण करते हैं और उसी से अपनी सत्ता को सुरक्षित रख पाते हैं। जो धन-वैभव और सम्पत्ति हमें मिलती है वह भी हमारी आत्मा को पुष्ट बनाती है। यह सब आदानयज्ञ का हिस्सा है।

## अर्पण यज्ञ

जो कुछ हम दूसरे जीवात्मा को देते हैं, वह अर्पणयज्ञ है। जिस पदार्थ को हम दूसरे को दे देते हैं उस पर से अपना स्वत्व हटा लेते हैं और दूसरे का स्वत्व स्थापित कर देते हैं। जब हम अपना सर्वस्व दूसरे को अर्पित करते हैं तो उसे शरणागति कहते हैं। गीता में कहा है—

*यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।*

*यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥*

(गीता ९.२७)

## उत्सर्ग यज्ञ

अर्पण के समान उत्सर्ग में भी त्याग होता है, किन्तु अर्पण में त्याग स्वेच्छा से किया जाता है, उत्सर्ग पराधीन है। जैसे मल मूत्र का त्याग। उत्सर्ग की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें जो पदार्थ छोड़ा जाता है वह किसी को दिया नहीं जाता, केवल उसका त्याग कर दिया जाता है। उत्सर्ग में ऐसे भी कार्य सम्मिलित किये जाते हैं जो किसी व्यक्ति विशेष के लिये न होकर सबके लिये होते हैं। उदाहरणतः कुएँ तालाब बनवाना, धर्मशाला बनवाना, चिकित्सालय बनवाना आदि। जिस पदार्थ का अर्पण किया जाता है उसका भोग अर्पण करने वाला स्वयं नहीं कर सकता। किन्तु उत्सर्ग के पदार्थ सार्वजनिक होते हैं; उनका उपयोग हम स्वयं भी कर सकते हैं। जैसे मेरे द्वारा बनवायी धर्मशाला में मैं स्वयं भी ठहर सकता हूँ। इस प्रकार के कार्यों से विश्व समृद्ध होता है। नये आविष्कारों से भी विश्व की समृद्धि करना अथवा नये ग्रन्थ निर्माण से विश्व की ज्ञान वृद्धि करना उत्सर्गयज्ञ में ही आते हैं। स्त्री और पुरुष अपने शुक्र और शोणित का उत्सर्ग करके सन्तानोत्पत्ति द्वारा विश्व को समृद्ध बनाते हैं। यह भी उत्सर्ग यज्ञ का ही हिस्सा है।

## भैषज्य यज्ञ

अन्न का आदान मुख्यतः भैषज्य यज्ञ है, किन्तु अन्न केवल मुख से भोजन करना ही नहीं है; हम अनेक प्रकार से अन्न ग्रहण करते हैं। जब हम थके होते हैं और थकान मिटाने के लिये थोड़ी देर बैठ जाते हैं तो विश्राम कर लेने मात्र से हमारी थकान दूर हो जाती है क्योंकि हमारे चारों

ओर फैले हुए प्राण मण्डल से हम प्राण ग्रहण कर लेते हैं। यह भैषज्य यज्ञ है, क्योंकि इससे हमारी थकावट की चिकित्सा हो जाती है। इस प्रक्रिया को भी यज्ञ कहा जाता है—

*अन्नोर्कप्राणानामन्योन्यपरिग्रहो यज्ञः ।*

### विकास यज्ञ

किसी पिण्ड का महिमामण्डल निरन्तर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इसे विकास यज्ञ कहते हैं। उदाहरणतः पृथिवी का महिमामण्डल, जो रथन्तर साम कहलाता है, वह पृथिवी का विकास यज्ञ है और सूर्य का महिमा मण्डल जो बृहत्साम कहलाता है उसका विकास यज्ञ है। इसी प्रकार बीज का अंकुर बनते हुए फूल फल की स्थिति में आना उसका विकासयज्ञ है। यह विकास महिमामण्डल तक होता है। पृथिवी के महिमामण्डल के तीन पृष्ठ हैं—रोदसी, क्रन्दसी और संयती। यही बात प्रत्येक पिण्ड के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इस महिमामण्डल के अन्तिम छोर तक पहुंच जाना ही स्वर्ग है।

इन पांचों यज्ञों में आदानयज्ञ से अर्पण यज्ञ और अर्पणयज्ञ से भी उत्सर्ग यज्ञ श्रेष्ठ हैं, क्योंकि अर्पण यज्ञ में एक व्यक्ति का ही भला होता है, उत्सर्ग यज्ञ में सबका भला होता है। आदान यज्ञ अथवा भैषज्य यज्ञ में हम जो कुछ भी विश्व से लेते हैं, वह हम पर ऋण है और उस ऋण को चुकाने के लिये ही ब्रह्मयज्ञ, ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा मनुष्ययज्ञ नामक पञ्च महायज्ञ शास्त्र में विहित हैं।

देव समष्टि से पदार्थ का निर्माण होता है। देव ऊर्जा है और ऊर्जा कर्म से पुष्ट होती है इसलिये यज्ञ को देवताओं का अन्न कहा गया है—*यज्ञो हि देवानामन्नम्*। इसलिये यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा है—*यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म*।

### विकास का अर्थ—

इन पाँच यज्ञों की अवधारणा से विकास की वैदिक अवधारणा स्पष्ट हो जाती है। प्रथम तथ्य तो यह है कि विकास के लिये जितना आवश्यक ग्रहण करना है उतना ही आवश्यक देना भी है। इसी दृष्टि से तप और दान की भी महिमा है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक विकास एक सीमा में ही होता है। जहाँ तक किसी पदार्थ या व्यक्ति का प्रभाव क्षेत्र ही नहीं है, वहाँ उसका विकास नहीं हो सकता। अपने प्रभाव क्षेत्र के अन्तिम छोर तक पहुंच जाना ही स्वर्ग है। अभ्युदय की यही चरम सीमा है।

### यज्ञ से सृष्टि

वेद में बारम्बार यह कहा गया है कि यज्ञ से सृष्टि होती है। सृष्टि दो पदार्थों के मिलने से होती है। दो पदार्थों का मिलना ही यज्ञ है। सृष्टि का प्रथम पर्व स्वयम्भू सृष्टि का अङ्ग नहीं है। स्वयम्भू में ऋक्, यजु और साम तीनों हैं। ये क्रमशः मन, प्राण और वाक् हैं, किन्तु इन तीनों का कोई परस्पर सम्बन्ध स्वयम्भू में नहीं होता।

## गोसव यज्ञ

ऋक्, यजुः और साम में 'यजुः' यत् और जू दो तत्त्वों से बना है। यत् वायु है, जू आकाश। इनमें वायु ही गतिशील है। वही सृष्टि का मूल कारण है, वही प्राण है। यह प्राण परमेष्ठी में आकर यज्ञ करता है। इस यज्ञ से आपः उत्पन्न होता है। परमेष्ठी के तीन मनोता हैं—भृगु, अंगिरा और अत्रि। इनमें भृगु और अंगिरा का मिश्रण ही आपः है। भृगु की घन, तरल और विरल भेद से तीन अवस्थाएं हैं—आपः, वायु और सोम। अंगिरा की भी तीन अवस्थाएं हैं—अग्नि, वायु और आदित्य। भृगु और अंगिरा के संसर्ग से अग्नीषोमात्मक जगत् बनता है। परमेष्ठी में होने वाला यज्ञ ही गौ है—यज्ञो वै गौः (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.९.६) यह गोसव यज्ञ ही समस्त सृष्टि का मूल है। इसलिये सब कुछ गौ ही है—गौर्वा इदं सर्वम् (शतपथ ब्राह्मण ३.१.२.१४) परमेष्ठी में इस होने वाले यज्ञ में मन, प्राण और वाक् का परस्पर सम्बन्ध बनता है। यह सम्बन्ध ही गोसवयज्ञ है। परमेष्ठी से जब यह गौ सूर्य और पृथिवी में आती हैं तो सूर्य के तीन मनोताओं—ज्योति, गौ और आयु—में से एक बनती है और इसी प्रकार पृथिवी के तीन मनोताओं—वाक्, घौ और गौ—में से एक बनती है। सूर्य की ज्योति पृथिवी में घौ बन जाती है और सूर्य की आयु पृथिवी में वाक् बन जाती है। ये ही मन, प्राण और वाक् हैं। मन की कामना, प्राण का तप और वाक् का श्रम ही सृष्टि उत्पन्न करता है। इस प्रकार यज्ञ से ही समस्त सृष्टि बनती है। परमेष्ठी के गोसवयज्ञ का वर्णन ताण्ड्य ब्राह्मण में इस प्रकार है—गोसवः स्वाराज्यो वा एष यज्ञः (ताण्ड्य ब्राह्मण १९.१.३.१)। परमेष्ठी मण्डल विष्णु का लोक है। उसी विष्णु लोक में गौओं के होने का वर्णन यजुर्वेद में इस भाषा में है—

या ते धामान्युश्मसि गमध्वै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।

अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरि॥

(यजुर्वेद ६.३)

## प्राक्सौमिकयज्ञ तथा सप्तसंस्थ सोमयज्ञ

शतपथ ब्राह्मण का कहना है कि आहुति ही यज्ञ है—आहुतिर्यज्ञः (शतपथ ब्राह्मण ३.१.४.१)। अग्नि में सोम की आहुति देना सोमयज्ञ है तथा अग्नि में अग्नि की आहुति देना चयनयज्ञ है। सोमयज्ञ से पूर्व यो यज्ञ किये जाते हैं उन्हें प्राक्सौमिक यज्ञ कहते हैं। ये पांच हैं—अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य और पशुबन्ध। इन पांच के करने के अनन्तर जो सोमयज्ञ किया जाता है वह सात प्रकार का है—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्यस्तोम, षोडशीस्तोम, वाजपेयस्तोम, अतिरात्रस्तोम और आप्तोर्यामस्तोम। ये सब ज्योतिष्टोम कहलाते हैं—अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्याम इति संस्था (आश्वालायन श्रौतसूत्र ६।११।१)।

इस ज्योतिष्टोम से ही स्वर्ग की प्राप्ति होना प्रसिद्ध है—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत।

इन यज्ञों में अग्न्याधान से लेकर पशुबन्ध यज्ञ तक का सम्बन्ध काल से है। संक्षेप में वह सम्बन्ध इस प्रकार है—

कालखण्ड	कालावधि	सम्बद्ध यज्ञ
अहोरात्र	एकाह	अग्नि होत्र
शुक्ल-कृष्ण-पक्ष	अहीन (दश अहोरात्र)	दर्श-पौर्णमास
ऋतु	रात्रिसत्र (सौ अहोरात्र)	चातुर्मास्य
अयन	अयन सत्र (सहस्र अहोरात्र)	पशुबन्ध
संवत्सर	सोमयाग (द्वादशमास)	सोमयाग

उपर्युक्त पाँच प्राक्सौमिक यज्ञों का रूप थोड़ा विस्तार से जानना होगा, किन्तु इससे पूर्व यह जान लेना चाहिये कि हमने जिन सात ज्योतिष्टोमों का उल्लेख किया है वे संवत्सर में वितत रहने वाली ज्योतिर्याग की सात संस्थाएं हैं जिनमें अग्निष्टोम प्रथम है और आप्तोर्याम अन्तिम। इस संस्था का आप्तोर्याम नाम इसलिये है कि इस संस्था में अग्नि अप्त अर्थात् सोम बन जाता है, क्योंकि अग्नि ही अपनी चरम अवस्था में सोम और सोम ही अपनी चरम अवस्था में पहुंचकर अग्नि बनता है। पृथिवी से इक्कीसवें अहर्गण तक जो अग्नि है वह चार स्तोमों में बंटी है—*त्रिवृत, पञ्चदश, सप्तदश और एकविंश*। ये ही प्रसिद्ध चार ज्योतिष्टोम हैं जिन्हें चतुष्टोम कहा जाता है। ज्योतिष्टोम यज्ञ ही विष्णु है और ये चतुष्टोम पौराणिक भाषा में यज्ञमूर्ति ज्योतिष्टोम विष्णु की चार भुजाएं कहलाती हैं। इन चार ज्योतिष्टोमों को ही क्रमशः अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्यस्तोम और षोडशीस्तोम कहा जाता है।

## सवन

अग्नि में घृत की आहुति देने को जिस प्रकार हवन कहते हैं उसी प्रकार अग्नि में सोम की आहुति देने को सवन कहते हैं। प्रातः कालीन, मध्यकालीन और सायंकालीन तीन सवन सोमयज्ञ अथवा सवयज्ञ में होते हैं। अग्नि में डाला हुआ सोम सुत कहलाता है।

## यज्ञ से स्वर्ग

जहां तक ज्योतिष्टोम का सम्बन्ध है उसके लिये यह समझना आवश्यक है कि सूर्य के तीन मनोता हैं—ज्योति, गौ और आयु। इन्हें समझने के लिये इस रूप में समझा जा सकता है कि ज्योति से अध्यात्म के देवता, गौ से भूत अर्थात् हाड़, मांस इत्यादि और आयु से आत्मा बनता है। ये तीनों ही सूर्य के मनोता सूर्य अर्थात् स्वर्ग तक पहुंचने के साधन बन सकते हैं। जब ज्योति को माध्यम बनाकर स्वर्ग प्राप्त के लिए यज्ञ किया जाता है तो वह ज्योतिष्टोम कहलाता है। जब गौ अर्थात् भूत भाग को माध्यम बनाकर यज्ञ किया जाता है तो वह गोष्टोम यज्ञ कहलाता है और जब आयु अर्थात् आत्मा को माध्यम बनाकर यज्ञ किया जाता है तो वह आयुष्टोम में यज्ञ कहलाता है।

इन तीनों ही यज्ञों में जिस द्रव्य की आहुति दी जाती है वह सत्रहवें अहर्गण तक पहुंच जाता है और उसी के माध्यम से अध्यात्म अग्नि भी सत्रहवें अहर्गण तक पहुंच जाता है। यही ज्योतिष्टोम द्वारा स्वर्ग प्राप्त करने का अर्थ है।

## यज्ञ और काल

जहां तक प्राक्सौमिक और सोमयाग का प्रश्न है, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, इन सभी यज्ञों का सम्बन्ध काल से है। काल का सबसे बड़ा खण्ड संवत्सर है और सबसे छोटा खण्ड अहोरात्र को माना गया है। सोमयज्ञ तथा सोमयज्ञ के पूर्व सम्पादित किये जाने वाले इन सभी यज्ञों का प्रयोजन यह है कि यजमान संवत्सर की दिव्याग्नि को आत्मसात् कर सके, किन्तु एक साथ संवत्सर की अग्नि को आत्मसात् करना सम्भव नहीं है। इसलिये सर्वप्रथम अग्निहोत्र द्वारा अहोरात्र की दिव्याग्नि को यजमान अपनी अध्यात्म अग्नि में स्थापित करता है। अहोरात्र के अनन्तर पक्ष की अग्नि दो चातुर्मास के द्वारा, उत्तरायण और दक्षिणायन अग्नि को पशु-बन्ध द्वारा और संवत्सर अग्नि को सोमयाग द्वारा आत्मसात् किया जाता है, किन्तु इन सबसे पूर्व भी अध्यात्म की पार्थिव अग्नि में दिव्य अग्नि का आधान किया जाना आवश्यक है। पार्थिव अग्नि में इस दिव्य अग्नि के आधान को ही अग्न्याधान कहते हैं। जब तक अध्यात्म में दिव्याग्नि का आधान नहीं होगा, तब तक अहोरात्र से लेकर संवत्सर-अग्निपर्यन्त किसी भी अग्नि का आधान अध्यात्म अग्नि में नहीं हो सकता। इसलिए जिसने अग्न्याधान नहीं किया वह अग्निहोत्र से लेकर सोमयज्ञ तक किसी भी यज्ञ का अधिकारी नहीं है।

यहां यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि इन सभी यज्ञों में चातुर्मास्य यज्ञ दो प्रकार का है—ऋतुचातुर्मास्य और अन्नचातुर्मास्य। पुनः ऋतुचातुर्मास्य भी तीन प्रकार का है—वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा। इसी प्रकार अन्न चातुर्मास्य भी तीन प्रकार का है—ब्रीहि, यव और श्यामाक। अन्नचातुर्मास्य को आग्रायणेष्टि कहते हैं। शीत ऋतु में ब्रीहि से की जाने वाली दृष्टि ब्रीह्याग्रायणेष्टि कही जाती है। ग्रीष्म में यव से की जाने वाली इष्टि यवाग्रायणेष्टि कही जाती है तथा वर्षा में श्यामाक से की जाने वाली दृष्टि श्यामाकाग्रायणेष्टि कही जाती है। इसी प्रकार ऋतुचातुर्मास्य भी तीन प्रकार का है—वैश्वदेव, वरुणप्रधान और शाकमेध। अग्न्याधान सहित अग्निहोत्र, दर्शपूर्ण-मास, आग्रायणचातुर्मास्य, ऋतुचातुर्मास्य और आयन से जो छः यज्ञ किये जाते हैं ये हविर्यज्ञ कहलाते हैं।

सप्त संस्था वाले ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की प्राप्ति होती है—यह ऊपर कहा जा चुका है, किन्तु सोमयज्ञ में इतनी शक्ति नहीं है कि वह मुक्ति की प्राप्ति करवा सके। जो मानुषात्मा सोमयज्ञ के बल से सूर्य तक जाती है, यज्ञबल के नष्ट होने पर वह पुनः पृथिवी पर लौट आती है। इसी सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि *क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।*

## यज्ञ से मुक्ति

मुक्ति के लिये सोमयज्ञ न करके चयनयज्ञ करना होता है। इस चयन यज्ञ के द्वारा पार्थिव अग्नि पर दिव्याग्नि की चिति की जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि पार्थिव अग्नि में दिव्याग्नि प्राकृतिक रूप में आती रहती है जिसके परिणाम स्वरूप वैश्वानर अग्नि बनती है। ये दोनों अग्नि परस्पर विरुद्ध दिशा से आकर जो घर्षण करती है उसी से वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होती है जिसके

कारण शरीर में ताप रहता है। इस वैश्वानर अग्नि का आदित्यभाग प्राण, पार्थिव भाग अपान और आन्तरिक्ष्य भाग व्यानप्राण का संचार करता है। आदित्य से आने वाला प्राण जब अन्तरिक्ष के व्यान से टकराकर वापिस लौटता है तो उसे उदान कहते हैं और पृथिवी से आने वाला प्राण जब अन्तरिक्ष के व्यान से टकराकर वापिस लौटता है तो उसे अपान कहते हैं। इस प्रकार तीन अग्नियों से पञ्चप्राण उत्पन्न होते हैं—यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। चयन यज्ञ के द्वारा जो दिव्याग्नि पार्थिव अग्नि पर आती है वह केवल आघात-प्रत्याघात न करके यज्ञ की प्रक्रिया के कारण चिति को प्राप्त हो जाती है अर्थात् अग्नि की एक सतह पर दूसरी सतह जमने लगती है। इस प्रकार दिव्याग्नि की मात्रा बढ़ जाती है।

### चयन यज्ञ से गर्भ-निर्माण

प्रकृति में यह चितियज्ञ प्रत्येक प्राणी की उत्पत्ति का कारण बनता है। जब स्त्री-पुरुष का संयोग होता है तो प्रथम चिति उनके शोणित और शुक्र के मिलने से होती है जिसे अन्नमय-चिति कहा जाता है। स्त्री और पुरुष जो बल लगाते हैं वह दूसरी प्राणमय-चिति है। उनका एक-दूसरे के प्रति प्रेम अथवा काम मनोमय-चिति करता है और उनका एक दूसरे के अभिप्राय को जानना विज्ञानमय-चिति को बनाता है। दोनों का आनन्द पांचवी चिति आनन्दमय-चिति बनाता है। इन पांच चितियों से ही गर्भ में बालक का निर्माण होता है। इनमें से यदि किसी एक चिति का भी अभाव रह जाय तो उस दशा में गर्भाधान ही नहीं होगा।

### तीन शरीर

इन पाँच चितियों में से प्रथम दो—अन्न और प्राण—पर पुनः तीन चितियाँ होती हैं जिन्हें पुनश्चिति कहा जाता है। ये पुनश्चिति तीन हैं—बीजचिति, देवचिति और भूतचिति। बीजचिति का अर्थ है—जीवात्मा की गति का कारण। ये कारण तीन हैं—विद्या, अविद्या और कर्म। केवल विद्या से मुक्ति मिलती है। विद्यायुक्त कर्म से स्वर्ग मिलता है और अविद्या युक्त कर्म से नरक। विद्या तीन प्रकार की है—निर्विकल्पज्ञान, सविकल्पज्ञान और वास्तुज्ञान। अविद्या पाँच प्रकार की है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। कर्म दो प्रकार के हैं—पाप और पुण्य। कर्म फल तीन भागों में बंटे हैं—जाति, आयु और भोग।

जहां तक देवचिति का सम्बन्ध है—यह प्राणों से होती है और भूतचिति भूतों से। प्राण पाँच हैं—आकाश, पर्जन्य, सूर्य, चन्द्र और पृथिवी। यहां पर्जन्य का अर्थ एक प्रकार की वायु है। ये पाँचों देवता-प्राण हमारे शरीर में अन्तश्चर होकर धातुओं का निर्माण करते हैं तथा बहिश्चर होकर भौतिक पदार्थों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को ग्रहण करके शरीर के अन्दर पहुंचाते हैं। ये प्राण स्वर्गचर होकर देवताओं के रसों को हमारे शरीर के अन्दर पहुंचाते हैं और उपास्य रूप में शरीर तथा आत्मा की पुष्टि करते हैं। जब ये पाँच देव अन्तश्चर होते हैं तो प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन नामों से जाने जाते हैं, जब ये बहिश्चर होते हैं तो मन, वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र नामों से जाने जाते हैं, जब स्वर्गचर होते हैं तो आकाश, पर्जन्य, सूर्य, सोम और अग्नि नाम से जाने जाते हैं और जब उपास्य होते हैं तो तेज अथवा श्री, यश अथवा कीर्ति, ओज,

मह और ब्रह्मवर्चस नाम से जाने जाते हैं। यह देवचिति का विस्तार हुआ। जो इन पाँच देवचितियों का भी ध्रुव निरञ्जन आधार है। वह ज्योतिरूप है। वही विज्ञानात्मा कहलाता है।

इन पाँच देवचितियों का भूतभाग पाँच भूतचिति बनाता है। आकाश से आकाश, पर्जन्य से वायु, सूर्य से तेज, चन्द्र से जल और पृथिवी से पृथिवी आकर हमारी आत्मा में सन्निविष्ट होते हैं।

इस प्रकार आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् पाँच चित्तियों और बीजचिति, देवचिति तथा भूतचिति इन तीन पुनश्चित्तियों से जो आत्मा का स्वरूप बनता है वही अन्न भोगता है। आत्मा के द्वारा अन्न का भोगा जाना भी यज्ञ का ही एक रूप है, क्योंकि जो अन्न हम लेते हैं वह अग्नि में आहुति बनकर ही आत्मा का जीवन बनता है। घौ से आने वाले प्राण का जब पृथिवीस्थानीय प्राण से घर्षण होने पर वैश्वानर-अग्नि उत्पन्न होती है तो भौतिक अन्न ही उस अग्नि में आहुति बनकर उसकी रक्षा करता है। भौतिक अन्न तो शरीर में चलने वाले यज्ञ का साधन है ही, किन्तु दैविक अन्न भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। योगी इस दैविक अन्न के बल पर भौतिक अन्न के बिना भी शरीर की अग्नि को बनाये रखते हैं, किन्तु साधारण मनुष्यों के लिये यह सम्भव नहीं है। उन्हें यदि भौतिक अन्न मिले तो उनके शरीर की अग्नि शान्त होने के कारण उनकी मृत्यु हो जाती है। स्वभावतः मनुष्य के शरीर में दैविक अन्न १४४ या १०८ वर्ष तक आते रहना चाहिये और यही मनुष्य की स्वाभाविक आयु है।

### अन्नयज्ञ

इसी दृष्टि से अन्न का 'यज्ञ' नाम है। अन्न ही सोम है। अन्न से ही समस्त शरीरों का निर्माण होता है। हमारे अन्नमयकोश के भीतर प्राणमय कोश हैं। प्राण भी देवता हैं। इन्हीं के कारण सब कुछ उत्पन्न होता है—*जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्य एव देवताभ्यः*। इसीलिये यज्ञ को देवताओं का अन्न कहा जाता है—*यज्ञो हि देवानामन्नम्*। यह यज्ञ प्रतिदिन चलता रहता है—*अहरहर्वा एष यज्ञस्तायते*। यह यज्ञ पदार्थ के महिमामण्डल तक जाता है। यह महिमा मण्डल ही स्वर्ग है। महिमामण्डल के तीन भाग हैं रोदसी, क्रन्दसी और संयती। रोदसी का सम्बन्ध द्युलोक से है। यही सूर्य लोक है, यही स्वर्ग लोक है। यहीं तक यज्ञ का वितान है। जिस अग्नि से पिण्ड बनता है वह अग्नि अन्न की आहुति से वर्धमान होकर इक्कीसवें अहर्गण तक जाता है, क्योंकि कोई पदार्थ इस यज्ञ की प्रक्रिया से बहिर्भूत नहीं है। इसलिये जो यज्ञ करने वाला है वह स्वयं भी यज्ञ है और जहां यज्ञ किया जाता है वह भी यज्ञ है। इस यज्ञ से ही यज्ञ होता है—*यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।*

### चित् और चिति

प्रश्न होता है कि चिति एक पर दूसरे की होती है तो प्रथम चिति का आधार क्या है? सब चित्तियों का आधार चित् है। चित् ही आत्मा है। चित् का अर्थ है जो चयन करे अथवा जिस पर चयन हो अथवा जिसका चयन हो। आत्मा ही आत्मा पर अपनी ही चिति बनती है। इसलिये

समस्त विस्तार आत्मा का ही है। यह चित् ही परात्पर है। इस दृष्टि से देखें तो सर्व खल्विदं ब्रह्म ठीक प्रकार से समझ में आता है। चित् के बीजचिति रूप से कारण शरीर, देवचिति रूप से सूक्ष्म-शरीर और भूतचिति रूप से स्थूलशरीर बनता है। ये तीनों ढेर हैं इसलिये देह कहलाते हैं। समुच्चय हैं इसलिये काय कहलाते हैं और मुख्य आत्मा से शीर्ण हो जाते हैं इसलिये शरीर कहलाते हैं। आत्मा इन्हें विशेष रूप से ग्रहण करती है इसलिये विग्रह कहलाते हैं। ये आत्मा का विस्तार करते हैं इसलिये तनु कहलाते हैं। सीमित होने के कारण ये पुर कहलाते हैं तथा आत्मा इनमें रहने के कारण पुरुष कहलाता है।

### माया तथा अविद्या

कारण शरीर में रहने वाली विद्या विद्या से, अविद्या अविद्या से और कर्म कर्म से पुष्ट होता रहता है। भोगने से इनका क्षय भी होता है, किन्तु इन तीनों के नये-नये उत्पन्न होते रहने के कारण कारणशरीर मुक्तिपर्यन्त सदा ही बना रहता है। यदि जीव विद्या को बढ़ाकर अविद्या को कम कर दे तो वह ईश्वर रूप हो जाता है। इसे ही सगुण मुक्ति कहा जाता है। जीव के ईश्वर बन जाने का रहस्य यह है कि जीव में अविद्या और माया दोनों रहती हैं। अविद्या बन्धन का कारण है, माया निर्माण का कारण है। ईश्वर माया के कारण निर्माण करता है, किन्तु अविद्या के अभाव में बन्धन में नहीं बँधता। जीव माया के कारण निर्माण तो करता ही है, अविद्या के कारण बन्धन में भी बँध जाता है। जैसे ही जीव अविद्या से छूटता है वैसे ही वह माया रहने पर भी ईश्वर से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसकी माया अभी नहीं छूटी इस कारण ही उसे सगुण रूप से ही मुक्त माना जाता है, निर्गुण रूप से नहीं।

कारणशरीर में रहने वाले काम, कर्म और शुक्र तीनों अविद्या से उत्पन्न हुए हैं। कामवश आत्मा सीमित हो जाता है और असीम होने के लिए व्याकुल हो जाता है। यही असीम होने की इच्छा प्रत्येक जीव में उद्विग्नता के रूप में दृष्टिगोचर होती है। काम जहां व्यक्ति को व्याकुल बनाता है ज्ञान व्यक्ति को तृप्त करता है। यह ज्ञान से मिलने वाली तृप्ति ही काम रूपी अविद्या को समाप्त कर सकती है। इस तृप्ति के दो साधन हैं—भक्ति और ज्ञान। निष्काम कर्म दोनों ही मार्गों में आवश्यक है। वस्तुतः काम ही हमारे पुनर्जन्म का कारण है।

### कर्म, विकर्म और अकर्म

अविद्या के सर्वथा समाप्त हो जाने पर तो मुक्ति हो जाती है, किन्तु अविद्या से युक्त जीव काम, कर्म और शुक्र से युक्त रहता है। इनमें जहां तक काम का सम्बन्ध है, भक्ति अथवा ज्ञान से उत्पन्न होने वाली तुष्टि ही कामना में उत्पन्न होने वाली उद्विग्नता को समाप्त कर सकती है। जहाँ तक कर्मों का सम्बन्ध है, ये चार प्रकार के हैं १. विद्यासापेक्ष २. विद्यानिरपेक्ष ३. विद्याविरोधी ४. निष्प्रयोजन। इन चार को गीता में तीन भागों में बांटा गया है विद्यासापेक्ष तथा विद्यानिरपेक्ष कर्म हैं, विद्याविरोधी विकर्म है और निष्प्रयोजन अकर्म है। विद्यासापेक्ष कर्म में केवल शरीर और मन ही नहीं, बुद्धि का भी सहयोग लिया जाता है। विद्या रूपी कर्म में केवल बुद्धि का सहयोग ही नहीं लिया जाता, अपितु वह बुद्धि को उत्पन्न भी करता है। ऐसे कर्म से आत्मा का अभ्युदय



होता है। विद्यानिरपेक्ष कर्म से केवल शरीर और मन का संस्कार होता है। विद्याविरोधी कर्म रजोगुण और तमोगुण से मलिन बुद्धि से किये जाते हैं। इसलिये उन्हें विद्याविरोधी माना जाता है। ये आत्मा के पतन के कारण हैं। इसलिए इन्हें पाप कहा जाता है। निरर्थक कर्म मनोरंजन के लिए किये जाते हैं, किन्तु बुद्धि में बाधक हैं।

विद्यासापेक्ष कर्मों में दो प्रकार के कर्म आते हैं—ज्ञानविशेषक और दैवलौकिक। ज्ञानविशेषक कर्म वे हैं जिनसे ज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान पांच प्रकार का है—नित्यविशुद्धब्रह्मज्ञान, निर्गुणब्रह्मज्ञान, सगुणब्रह्मज्ञान, दिव्यज्ञान और इन्द्रियज्ञान। इनमें प्रथम दो ज्ञानों में कर्म का स्पर्श नहीं रहता है। इनमें नित्यविशुद्ध ब्रह्मज्ञान परब्रह्म का है, निर्गुण ब्रह्मज्ञान जीव में ऐसे कर्मों से उत्पन्न होता है जिनसे कर्मों की निवृत्ति होती है। इससे जीव की परामुक्ति होती है। सगुण ब्रह्मज्ञान में गुण निवृत्त नहीं होते, किन्तु अविद्या के बहुत से दोष निवृत्त होते हैं। इसे उपासना कहा जाता है। इससे अवर मुक्ति होती है। इस मुक्ति में स्वामी-सेवक भाव बना रहता है। इसमें अपने प्रति हीनता का भाव तथा स्वामी के प्रति उत्कृष्टता का भाव बना रहता है। इसी कारण दुःख भी बना रहता है। इसलिए इसे अवर मुक्ति कहते हैं। कुछ कर्म ऐसे हैं जिनसे दिव्यज्ञान उत्पन्न होता है। दिव्यज्ञान के उत्पन्न होने पर अष्टसिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं जो इस प्रकार हैं—१. अणिमा—छोटा शरीर धारण करने की शक्ति। २. महिमा—विशाल शरीर धारण करने की शक्ति। ३. लघिमा—हल्के होने की शक्ति। ४. गरिमा—भारी होने की शक्ति। ५. व्याप्ति—बहुत देश में व्यापक होने की शक्ति। ६. प्राकाम्य—इच्छासिद्धि। ७. ईशित्व—अनेक प्राणियों पर प्रभुत्व। ८. वशित्व—सर्वराक्षस आदि को वशीभूत कर लेना।

इन अष्टसिद्धियों के अतिरिक्त दिव्यज्ञान से निम्न शक्तियां भी प्राप्त हो जाती हैं जिन्हें तुष्टियां कहा जाता है : १. भूतभविष्य का ज्ञान २. दूरदृष्टि ३. दूरश्रवण ४. परकायप्रवेश ५. कायव्यूह अर्थात् एक समय में अनेक रूप धारण करना। ६. जीवदान अर्थात् मृत को जीवित करना। ७. परजीव हरण अर्थात् जीवित को समाप्त कर देना। ८. सर्ग अर्थात् नयी सृष्टि करना। ९. सर्गहरण अर्थात् संहार करना।

पांचवां ज्ञान इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला ज्ञान है, इसके लिए किसी कर्म की आवश्यकता नहीं है। इन पांचों ज्ञानों में पहले दो ज्ञानों के लिए ज्ञानपूर्वक कर्म आवश्यक है। इनमें दूसरे निर्गुण ब्रह्मज्ञान के लिए निवृत्ति कर्म, सगुण ब्रह्मज्ञान के लिए उपासना कर्म और दिव्यज्ञान के लिए योगकर्म चाहिये। ये सभी कर्म विद्यासापेक्ष कहे जाते हैं।

विद्यासापेक्ष कर्मों में दूसरी कोटि दैवलौकिक कर्मों की है इसके द्वारा देवलोक अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ये कर्म तीन हैं—यज्ञ, तप और दान। मनुष्य में दो तत्त्वों का मिश्रण है—दैवात्मा और मानुषात्मा। मृत्यु के समय ये दोनों पृथक् हो जाती हैं। दैवात्मा सूर्य की ओर जाती है, मानुषात्मा पृथिवी की ओर। यह मानुषात्मा ही हंसात्मा कहलाती है। हंसात्मा वायु-प्रधान है, जबकि दैवात्मा अग्निप्रधान है। दैवात्मा जब सूर्य की ओर जाना चाहती है तो कर्म बाधक बनते हैं। यज्ञ, तप और दान ये तीन ऐसे कर्म हैं जो सूर्य विरोधी कर्म को निर्बल बनाते हैं और सूर्य की ओर जाने की शक्ति को बढ़ाते हैं। इन्हीं तीन को हमने विद्यासापेक्षदैवलौकिककर्म कहा है। इनमें

यज्ञ वैश्वानर अग्नि को पुष्ट करके सूर्य तक पहुंचाता है, जिसका वर्णन हमने चयनयज्ञ और सोमयज्ञ के रूप में किया है।

तप में शरीर के वैश्वानर-अग्नि में दिव्य या अन्तरिक्ष की अग्नि का प्रवेश करके वैश्वानर अग्नि को क्षुब्ध किया जाता है। यह क्षुब्ध अग्नि दो काम करती है प्रथम, यह आत्मा पर आये हुए कर्म के संस्कारों को जला देती है और द्वितीय, आत्मा के धरातल को ऐसा परिपक्व बना देती है कि उस पर संस्कार नहीं जम पाता। तीन कर्म मुख्यतया तप कहलाते हैं—ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण और अनशन।

तीसरा विद्या सापेक्ष कर्म दान है। तप में आत्मा के अन्तरङ्ग का कोई भाग बाहर जाता है और बाहर से बलवान् धर्म उसके स्थान पर आकर आत्मा को बलवान् बनाता है। जिस प्रकार कच्ची ईंट को सुखाने पर जब उसका जल निकल जाता है तो उसके स्थान पर बलवान् अग्नि आकर उस ईंट को अन्तर्यामि सम्बन्ध से बलवान् बना देता है। व्यायाम करने वाला पुरुष भी इस प्रकार अपने बल को व्यय करता है ताकि उसके अन्दर और अधिक उत्तम बल प्रविष्ट हो सके।

दान में हम आत्मा के अन्तरङ्ग भाग का त्याग न करके बहिरङ्ग भाग का त्याग करते हैं। इसमें आत्मा का समर्पण न होकर आत्मीय वस्तु का समर्पण होता है। इससे भी आत्मा में अधिक बल उत्पन्न होता है।

इन दैवलौकिक कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, किन्तु विद्यानिरपेक्ष कर्मों से पितृलोक की प्राप्ति होती है। ये विद्यानिरपेक्ष कर्म तीन हैं—इष्ट, आपूर्त और दत्त। इष्ट स्मार्त यज्ञ है। आपूर्त बाग, कुआं धर्मशाला औषधालय आदि सर्वजनोपयोगी कार्यों का नाम है। दत्त और दान में विशेष अन्तर यह है कि दान में देश-काल-पात्र का विचार करके वेदमन्त्र के संकल्पपूर्वक जल के द्वारा भूमि, अन्न, धन इत्यादि दिया जाता है। यही पदार्थ जब बिना वेद मन्त्र एवं बिना जल के देश-काल-पात्र की अपेक्षा के बिना दिये जाते हैं तो दत्त कहलाते हैं। दान अंगहीन असमर्थ को नहीं दिया जाता, जबकि दत्त अंगहीन एवं असमर्थ को ही देने में अधिक पुण्य होता है।

इस प्रकार विद्यासापेक्ष और विद्यानिरपेक्ष कर्म के विवेचन के अनन्तर विद्याविरोधी कर्म भी जान लेने चाहिये, क्योंकि उन कर्मों से बचना आवश्यक है। ये कर्म आत्मा से सूर्य की ओर नहीं जाने देते। इनमें अतिघातक पहला है जो सबमें अधिक घातक है। आत्मघात अतिघातक माना जाता है। इसी क्रम में सुवर्ण की चोरी महापातक, गुरुद्रोह अनुपातक, प्राणियों का अनिष्ट करना पातक तथा किसी को हानि न पहुंचाने वाला मिथ्या भाषण उपपातक है। इन पाँच पातकों के अनन्तर वे चार विद्याविरोधी कर्म आते हैं जिससे जीव की योनि का सम्बन्ध है। जिन कर्मों से मनुष्य पशुकीटयोनि में जाता है वे जातिभ्रंशक कर्म हैं। जिनके कारण जीव मनुष्य योनि में ही छोटे वर्ण में जाता है वे सांकर्य करण मार्ग हैं। ऊंचे वर्ण में जन्म होने पर भी व्यक्ति को दुःखी दरिद्र बनाने वाले कर्म मलिनिकरण हैं। ये सभी पाप हैं। इनमें मन से किये हुए पापकर्म काम-क्रोध आदि आधि हैं। वचन से किये पाप का फल गाली आदि वचनों द्वारा भोगा जाता है और शरीर से किये गये कर्मों का फल शरीर में होने वाले रोग, व्रण, घात आदि द्वारा भोगा जाता है।

आत्मा की उन्नति के अनुकूल साधनों को न आने देने वाले कर्म अकर्म कहलाते हैं। काम जन्य कर्म में आत्मा में उत्पन्न होने वाला संस्कार शुक्र कहलाता है। यह शुक्र दो प्रकार का है—सृष्टि की इच्छा से उत्पन्न होने वाला तथा भोग की इच्छा से उत्पन्न होने वाला। सृष्टिकी उत्पत्ति की इच्छा माया है। यह ईश्वर में पायी जाती है। भोग की इच्छा अविद्या है जो जीव में पायी जाती है। ईश्वर में भोग की इच्छा नहीं होती इसीलिए उसका जन्म-मरण नहीं होता। जीव माया के कारण शरीर का निर्माण करता है और अविद्या के कारण नाना योनियों में जाता है। इनमें भोग की कामना में उत्पन्न होने वाला शुक्र भी दो प्रकार है—एक बन्धन रूप जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप क्लेश है। दूसरा शुक्र भोगनाशय है। भोगनाशयशुक्र भोगने से ही नष्ट होता है। हमारे कर्म तीन प्रकार के हैं—सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण। जो कर्म भोगा जाना अभी प्रारम्भ नहीं हुआ वे सञ्चित कर्म कहलाते हैं। वर्तमान में किये गये कर्म क्रियमाण कहलाते हैं। ज्ञान उत्पन्न होने की स्थिति में प्रारब्ध कर्मों को छोड़कर शेष कर्म नष्ट हो जाते हैं।

### यज्ञ का लक्षण—वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यद्यज्ञः

आईन्स्टीन के इस सिद्धान्त ने, कि पदार्थ ऊर्जा में तथा ऊर्जा पदार्थ में बदल सकती है, आधुनिक विज्ञान को एक नया रूप प्रदान किया है, किन्तु महर्षि ऐतरेय आरण्यक का कहना है कि पदार्थ मन में तथा मन पदार्थ में बदल सकता है और पदार्थ तथा मन के एक दूसरे में बदल जाने को ही यज्ञ कहते हैं—*वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यद्यज्ञः (ऐतरेय आरण्यक २/३/३/१५)* यहाँ “उत्तरोत्तरि” शब्द ध्यान देने योग्य है। इसमें “इच् कर्मव्यतिहारे” सूत्र से विनिमय के अर्थ में इच् प्रत्यय लगा है। इसी आधार पर महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने ऐतरेय आरण्यक के इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार किया है—मन का प्राण में आकर वाक् बनना तथा वाक् का पुनः मन में परिवर्तित होना, इस क्रम को यज्ञ कहते हैं (वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पटना, १९७२, पृ. ९३)।

आईन्स्टीन कहते हैं कि पदार्थ ऊर्जा में बदल सकता है, जबकि महर्षि ऐतरेय कहते हैं कि पदार्थ ऊर्जा से आगे मन में भी बदल सकता है। भौतिक विज्ञान से वेद-विज्ञान का यह मूलभूत अन्तर है कि भौतिक विज्ञान मन पर विचार ही नहीं करता, जबकि वेद-विज्ञान प्रत्येक विश्लेषण के मूल में मन को मानता है। आईन्स्टीन ने पदार्थ के ऊर्जा में परिणत होने का सूत्र दिया  $E = Mc^2$ । इसके विपरीत ऊर्जा के पदार्थ में परिणत होने का सूत्र होगा  $M = \frac{E}{c^2}$  ~ *oversee Wigner*

### स्थैतिक ऊर्जा तथा गतिज ऊर्जा—आनीत् एवं प्राणीत्

नासदीय सूत्र की एक ऋचा का पाद है—*आनीदवातं स्वधया तदेकम् (ऋग्वेद,*

१०.१२९.२) । आनीत् शब्द में प्र उपसर्ग नहीं है । यह ऊर्जा का स्थैतिक (potential) रूप है । इसी बात को अक्रिया सूचक “अवातम्” शब्द के प्रयोग द्वारा वेद ने स्पष्ट किया है । जब मन की कामना गति उत्पन्न करती है तो ऊर्जा का गतिक (kinetic) रूप प्राप्त होता है । ऊर्जा का यह गतिक रूप ही सृष्टि का निर्माण करता है । ऊर्जा का यह गतिक रूप प्रकृष्टता के कारण प्र+ अन= प्राण कहलाते है । इस प्राण के ही विविध रूप विविध देव हैं, क्योंकि इस प्राण के माध्यम से ही पदार्थ मन में तथा मन पदार्थ में परिणत होता है, अतः ऐसा कहा जाता है कि प्राण से यज्ञ-निष्पन्न होता है—*प्राणैरु यज्ञस्तायते (जैमिनीय ब्राह्मण २.४३१)* । इसी प्रकार—*प्राणेन यज्ञः सन्ततः (मैत्रायणी संहिता ४.६.२)* ।

### वाक् तथा मन के बीच की श्रृङ्खला प्राण की रज्जु

प्राण मन तथा पदार्थ के बीच की कड़ी है । प्राण मानों एक रस्सी है जिसके दो छोरों में से एक छोर से मन बँधा है, दूसरे छोर से पदार्थ और इस प्रकार मन तथा पदार्थ का परस्पर सम्बन्ध हो जाता है । मन सूक्ष्म है, पदार्थ स्थूल; ये दोनों सीधे आपस में नहीं जुड़ सकते । प्राण, जो कि न बहुत सूक्ष्म हैं न बहुत स्थूल, मध्यवर्ती, बनकर इन दोनों को जोड़ देता है—*प्राण एव रज्जुः । प्राणेन हि मनश्च वाक् चाभिहिते (शतपथ ३.१.४.२)* ।

### मन की कामना प्राण की गति द्वारा अपूर्व की उत्पत्ति करती है

प्राण के माध्यम से मन का पदार्थ से जुड़ने का क्रम सङ्क्षेप में इस प्रकार है—मन की कामना प्राण को गति देती है तथा प्राण की गति वाक् अर्थात् पदार्थ का निर्माण करती है । मन की कामना यज्ञ की परिभाषा में सङ्कल्प है । प्राण में गति देवों की स्तुति से होती है तथा उसी गति से पदार्थ का निर्माण अपूर्वोत्पत्ति है । यजमान के सङ्कल्पानुकूल अपूर्वोत्पत्ति हो जाये इसी में यज्ञ की सफलता है । ऋत्विज यह जानता है कि किस सङ्कल्प की पूर्त्यर्थ किस प्राण अर्थात् देव की किस मन्त्र से स्तुति की जाये कि वह प्राण अथवा देव उस सङ्कल्पानुकूल गति करके अभीष्ट पदार्थ को दे दे । ऋत्विज का यही ज्ञान विज्ञान है । जिस ऋत्विज को इस यज्ञविज्ञान का समीचीन ज्ञान नहीं उसके द्वारा सम्पादित यज्ञ अभीष्ट फल नहीं देगा ।

### यज्ञ की सफलता के आठ हेतु

यज्ञ की सफलता के लिये शतपथ ब्राह्मण ने दीक्षा लेते समय यजमान से आठ पदार्थों की अपेक्षा की है—आकृति, प्रयुक्, मेधा, मन, दीक्षा, तप, सरस्वती तथा पूषा । इन आठ के बिना मानुषात्मा में दिव्यात्मा का आदान नहीं हो सकता । इन आठ के कारण हमारा प्राण ऊर्ध्वगामी होता है, अतः ये औद्ग्रभण कहलाते हैं । आकृति का अर्थ है सङ्कल्प । सङ्कल्प का कार्य में परिणत होना प्रयुक्त है । सङ्कल्प और प्रयुक् ही क्रतु-दक्ष अथवा मित्र-वरुण भी कहलाते हैं । सङ्कल्प का स्मरण मेधा है । इस मेधा युक्त मन से ही दीक्षा सम्भव है । दीक्षा से प्राण व्यापृत होता है । यही तप है । तप के बाद सरस्वती अर्थात् मन्त्र के शुद्धोच्चारण का स्थान आता है । अन्त में पूषा अर्थात् यज्ञोपयोगी द्रव्य का स्थान है । ये आठ घटक यज्ञ की ही नहीं, सभी कर्मों की सफलता की कुञ्जी

हैं। जहाँ ये आठ हैं, वहाँ असफलता नहीं हो सकती (शतपथ ब्राह्मण ३.१.४.६-९)।

### यज्ञ में मन का योगदान

मन की कामना हमारे प्राणों में एक ताप उत्पन्न कर देती है। यह ताप ही प्राणों का तप है जिसके कारण गति उत्पन्न होती है। आधुनिक दर्शन की भाषा में मन सत्त्व है, प्राण रजोगुण है और वाक् तमोगुण है। मन की कामना प्राण के तप को उत्पन्न करती है। जब तक मन का संकल्प दृढ़ न हो तब तक यज्ञ नहीं किया जा सकता—*युक्तेन हि मनसा यज्ञस्तायते* (मैत्रायणी संहिता ३.१.१)। मन का यह मनन ही घनीभूत होकर मानों मन्त्र बना गया है। इसलिए यज्ञ की कोई क्रिया बिना मन्त्र के नहीं हो सकती। मन में और मन्त्र में इतना गहरा सादृश्य है कि शतपथ ब्राह्मण में मन को यजुर्वेद बताया है—*मनो वै यजुः* (शतपथ ब्राह्मण ७.३.१.४.०)। काठक संकलन तो मन में ऋक्, साम और यजुः तीनों को ही प्रतिष्ठित बताता है—*यस्मिन् ऋचः सामयजूषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः* (काठक संकलन १.३.४.९.१०)। प्रत्येक निर्माण के मूल में मन है। इसलिए मन को सामविधान ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही प्रजापति कहा गया है—*मनो हि प्रजापतिः* (सामविधान ब्राह्मण १.१.४)। पदार्थ सीमित हैं, मन अपरिमित है—*अपरिमिततरमिव हि मनः परिमिततरेव हि वाक्* (शतपथ ब्राह्मण १.४.४.७)। चञ्चल चित्त से साधारण कार्य भी नहीं किया जा सकता—*न ह्ययुक्तेन मनसा किञ्चन सम्प्रति शक्नोति कर्तुम्* (माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण ६.३.१.१४)। फिर यज्ञ की तो बात ही क्या? साधारण कार्य में हम पदार्थ का व्यवहार करते हैं अतः यदि मन साथ न भी हो तो कार्य कदाचित् यान्त्रिक रूप से किया जा सकता है, किन्तु यज्ञ में हमें प्राणों से व्यवहार करना है। प्राण अत्यन्त सूक्ष्म हैं। उससे अधिक सूक्ष्म केवल मन ही है। इसलिए बिना मन के यज्ञ कदापि फलदायी नहीं हो सकता। इसलिए शतपथ ब्राह्मण में मन को मैत्रावरुण बताया है—*मनो मैत्रावरुणः* (शतपथ ब्राह्मण १२.८.२.२३)। जैमिनीय ब्राह्मण में इस तथ्य को कि मन किस प्रकार पदार्थ को नियन्त्रित करता है, इस सुन्दर रूपक द्वारा अभिव्यक्त किया है कि पदार्थ गौ है, मन बछड़ा है। जिस प्रकार गौ बछड़े के पीछे चलती है उसी प्रकार पदार्थ मन का अनुसरण करता है—*तस्यै मन एव वत्सः। मनसा वै वाचं पृक्तां दुहे। वत्सेन वै मातरं पृक्तां दुहे। तद्वा इदं मनः पूर्वम्। यत् पश्चा वागन्वेति तस्मात् वत्सं पूर्वं यन्तं पश्चा मातान्वेति* (जैमिनीय ब्राह्मण, १.१९)। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में मन को कामनाओं से भरा हुआ सरोवर कहा गया है—*स एष हृदयः कामानां पूर्णो यन्मनः* (जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण १.१८.३.३)। सब सर्जन के मूल में यह कामना रहती है। यज्ञ के प्रारम्भ में जब हम सङ्कल्प करते हैं तो मन की इस कामना को ही अभिव्यक्त करते हैं।

### प्राण ही देव हैं

मन में तो कामनाएं सबके उत्पन्न होती हैं, किन्तु सफल उन्हीं की कामना होती है जिनकी कामना प्राणशक्ति को उद्वेलित कर सके। यज्ञविद्या में इस प्राणशक्ति को ही देव कहा गया है—*तस्मात्प्राणा देवाः* (शतपथ ब्राह्मण ७.५.१.२१)। देवताओं की प्राण होने की बात इतनी

महत्त्वपूर्ण है कि ब्राह्मण ग्रन्थों ने इसको बार-बार दोहराया है—*प्राणा वै देवाः* (मैत्रायणी संहिता ३.२.१, तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.८.१७.५ माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण ७.१.१.२४, तैत्तिरीय संहिता ६.१.४.५, काठकसंहिता २७.१, जैमिनीय ब्राह्मण २.३०१-३४७) । इतना ही नहीं लगभग सभी देवताओं को प्राण बताकर ब्राह्मण ग्रन्थों ने इस बात की पुष्टि कर दी है कि देवता और कुछ नहीं, प्राण ही हैं । अग्नि भी प्राण है (शतपथ ब्राह्मण ६.३.१.२१) । वायु भी प्राण है (तैत्तिरीय संहिता ७.५.२.५.१) । सोम भी प्राण है (कौषितिक ब्राह्मण ९.६) । यह वक्तव्य इसी प्रकार का है, जैसे कोई कहे कि प्रकाश भी ऊर्जा है, गति भी ऊर्जा है, ताप भी ऊर्जा है ।

### मन प्राण का प्रेरणा-स्रोत

ये प्राण अथवा देव मन से जुड़े हैं—*एते वै देवा मनोजाता मनोयुजो यदिमे प्राणाः* (मैत्रायणी संहिता ३.६.९) । ये देवप्राण मनुष्य के मन को जान लेते हैं । यज्ञ को प्राणविद्या कहें या देवविद्या एक ही बात है । यह यज्ञ ही देवताओं की सम्पत्ति है—*यज्ञमु ह वा व देवानां श्रीः* (जैमिनीय ब्राह्मण २.१३९) । यज्ञ ही देवताओं की आत्मा है—*यज्ञ उ देवानामात्मा* (शतपथ ब्राह्मण ८.६.१.१०) । ये प्राण जब मन से जुड़ते हैं तो इन प्राणों का कर्म (क्रतु) दक्ष (कुशल) हो जाता है । वह कुशल कर्म ही यज्ञ है—*इमे वै प्राणाः । मनोजाता मनोयुजो दक्षकृतवः* (शतपथ ब्राह्मण ३.२.२.१३) । मन और प्राण का यह सम्बन्ध इतना गहरा है कि षड्विंशब्राह्मण में मन को प्राण का आधा भागीदार बताया गया—*अर्धभाग् वै मनः प्राणानाम्* (षड्विंशब्राह्मण १.५.५) । पदार्थ स्वयं गति नहीं कर सकता । प्राण ही उसे गति देता है, इसलिए प्राण ही पदार्थ का सार है—*एतद्वै वाचः सत्यं यत्राणः* (जैमिनीय ब्राह्मण २.४२५) । यदि यह जानना हो कि एक देवता कौन सा है, तो उत्तर होगा प्राण—*कतमैका देवतेति प्राण इति* (जैमिनीय ब्राह्मण २.७७) । यज्ञ इन प्राणों को ही ढालने की प्रक्रिया है—*प्राणो यज्ञेन कल्पताम्* (तैत्तिरीय संहिता १.७.९.१-२) । प्राण सब भूतों को नियन्त्रित करता है । प्राण का भूत से इतना गहरा सम्बन्ध है कि प्राण को वाक् भी कह दिया गया है—*प्राणो वै वाक्* (मैत्रायणी संहिता ३.२.८) । प्राण मन का अनुसरण करते हैं—*मनो वा अनु प्राणः* (जैमिनीय ब्राह्मण १.१६) । मन ने ही प्राणों को धारण किया है—*मनसा हि प्राणो धृतः* (काठक संहिता २७.१) । मन प्राणों का अधिपति है, मन में समस्त प्राण प्रतिष्ठित हैं—*मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणा प्रतिष्ठिताः* (शतपथ ब्राह्मण १४.३.२.३) । अतः मन से ही व्यक्ति प्राणों को वश में कर सकता है—*मनसैव प्राणमाप्नोति* (मैत्रायणी संहिता ४.५.५) ।

### प्राण का वाक् से सम्बन्ध

प्राण जहाँ एक ओर मन से जुड़ा है, वहाँ दूसरी ओर वाक् से जुड़ा है । शब्द आकाश का गुण है अतः शब्द उपलक्षण से पञ्चभूत को बताता है । जहाँ एक ओर “मनोयुजो यदिमे प्राणाः” कहा गया, वहाँ दूसरी ओर प्राणों को वाक् का जोड़ीदार बताया गया है—*वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम्* (शतपथ ब्राह्मण १.४.१.२) । इतना ही नहीं जैमिनीय ब्राह्मण ने इस मिथुन को दिव्य बताया है—*तद्वै दैव्यं मिथुनं यद्वाक् च प्राणश्च* (जैमिनीय ब्राह्मण १.३०६) । इसी बात को ऐतरेय आरण्यक ने दूसरी तरह से कहा है—*वाक् प्राणेन संहिता* (ऐतरेय आरण्यक ३.१.६) । जैमिनीय

उपनिषद् में प्राण को वाक् का रस बताया गया है—*तस्या उ प्राण एव रसः (जैमिनीयोपनिषद् १.१.७)* । प्राण और वाक् के इस गहरे सम्बन्ध को देखकर मैत्रायणी संहिता ने दोनों का तादात्म्य मान लिया है—*प्राणो वै वाक् (मैत्रायणी संहिता ३.२-८)* । शतपथ ब्राह्मण में प्राणों को वाक् का पति बताया गया है—*प्राणो वाचस्पतिः (शतपथ ब्राह्मण ६.३.७.१९)* । जैमिनीय ब्राह्मण का कहना है कि प्राण ही वाक् का विस्तार करता है—*प्राणैर्वाक् सन्तता (जैमिनीय ब्राह्मण ३.११९)* । ऐतरेय आरण्यक में स्थूल होने के कारण वाक् को पूर्व रूप और मन को उत्तर रूप बताया है तथा प्राण को इन दोनों का जोड़ने वाला बताया गया है—*वाक् पूर्वरूपं मन उत्तररूपं प्राणः संहिता (ऐतरेय आरण्यक ३.१.१)* ।

### सबका देवमयत्व

उपर्युक्त समस्त उद्धरणों से प्राण का वाक् से और मन से घनिष्ठ सम्बन्ध असन्दिग्ध रूप में प्रमाणित हो जाता है । साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्राण ही देवता है । मन्त्र अर्थात् मन के मनन बल से यह प्राण देव वाक् अर्थात् भूत को नियन्त्रित करते हैं । भूत प्रत्यक्ष है, प्राण परोक्ष, हैं, मन अतिपरोक्ष है । यज्ञ का सम्बन्ध प्राण से है । यज्ञ में उलूखल-मूसल आदि पदार्थों की उपासना उनमें निहित प्राणतत्व की उपासना है । इसलिए उलूखल, मूसल इत्यादि भी वहां देवता ही हैं ।

### यज्ञ की सकामता

इन सब स्तुतियों के पीछे कामना अवश्य रहती है । तैत्तिरीय संहिता कहती है कि यज्ञ कामनाओं की पूर्ति के लिए ही किया जाता है—*सर्वेभ्यो हि कामेभ्यो यज्ञः प्रयुज्यते (तैत्तिरीय संहिता २.४.११.२)* । यास्काचार्य ने इसी परम्परा का संवर्धन करते हुए कहा—*यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद् दैवतः स मन्त्रो भवति (निरुक्त ७.१)* । वस्तुस्थिति यह है कि सृष्टि का आदि मूल बीज काम है—*कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् (ऋग्वेद १०.१२९.४)* ।

### प्राण तथा क्वाण्टम सिद्धान्त

आधुनिक विज्ञान परमाणुवाद के स्थान पर क्वाण्टम सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है । परमाणुवाद का मानना था कि पदार्थ ऐसे ठोस परमाणुओं से मिलकर बने हैं जो परमाणु निरंश, अवयव-रहित तथा अविभाज्य हैं । क्वाण्टम सिद्धान्त में परमाणु का स्थान ऊर्जा-राशि ने ले लिया है । यह ऊर्जा-राशि गतिशील है । परमाणुवाद जहाँ हमें भूत-सिद्धान्त की ओर ले जाता है वहाँ क्वाण्टम सिद्धान्त हमें प्राण-विज्ञान की ओर ले जा रहा है, क्योंकि गतिशीलता प्राण का ही काम है । यज्ञ विज्ञान का कहना है कि यह निरन्तर गतिशीलता मन की कामना से आई है । इस गतिशीलता को ही नासदीय सूक्त में “*तिरश्चीनः विततः रश्मिरेषाम् अधः स्विदासीत् उपरि स्विदासीत्*” (ऋग्वेद १०.१२९.५) कहकर प्रकट किया है । उल्लेखनीय है कि रश्मि शब्द का

अर्थ तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्राण किया गया है—प्राणाः रश्मयः । (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.२.५.२) । स्पष्ट है कि ऋग्वेद प्राणों की तीन प्रकार की गति का उल्लेख कर रहा है—तिरछी, निम्नगा और ऊर्ध्वमुख ।

### गति से पञ्चभूतोत्पत्ति

तन्त्र में गति से पञ्चभूतों की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण किया है । गति पाँच प्रकार की है इसलिए भूत भी पाँच हैं । निम्नगा गति जल को जन्म देती है, ऊर्ध्वमुख गति अग्नि को, तिर्यक्-गति वायु को, केन्द्राभिमुख गति पृथिवी को जन्म देती है और उसके विपरीत गति आकाश को जन्म देती है । संक्षेप में प्राणतत्त्व के भूत में परिणत होने की यही प्रक्रिया है । इन पाँच गतियों में से ही प्रथम तीन गतियों का उल्लेख नासदीय सूक्त में हुआ है । नासदीय सूक्त ने भूत जगत् को दो भागों में बांट दिया है भोग्य और भोक्ता—स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् (ऋग्वेद १०.१२९.५) । इन्हें ही ब्राह्मण ग्रन्थ में अन्न तथा अन्नाद कहा है । संक्षेप में मन की अन्न में परिणत होने की यही कथा है जिसे ऐतरेय आरण्यक ने यज्ञ नाम दिया है ।

### वाक् से चित्त

ऐतरेय आरण्यक ने चित्त को वाक् या अन्न में परिणत होने को यज्ञ कहा है, किन्तु साथ ही यह भी कहा है कि वाक् का चित्त में परिणत होना भी यज्ञ है । मन का प्राण में परिणत होना अधिदैव यज्ञ है । प्राण का भूत में परिणत होना अधिभूत यज्ञ है, किन्तु अन्न अथवा वाक् का मन में परिणत होना अध्यात्मयज्ञ है । यज्ञ के इसी स्वरूप को ध्यान में रखकर यज्ञ की एक दूसरी परिभाषा दी गई है—अन्नोर्क्प्राणानामन्योन्यपरिग्रहो यज्ञः (शतपथ ब्राह्मण के पण्डित मोतीलाल शास्त्रीकृत विज्ञानभाष्य प्रथम खण्ड पृष्ठ ३६८ पर उद्धृत) अर्थात् अन्न का ऊर्क् और प्राण में परिणत होना यज्ञ है । ऊर्क् का अर्थ है रस । अन्न रस में परिणत होता है और रस प्राण में । इसी प्रक्रिया का विस्तार आयुर्वेद में किया गया है—रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च । अस्थो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रसादजः (चरक १५/१४) ।

### अन्नमय मन :

अन्न का जो भाग आत्मसात् हो जाता है वही रस है; जो भाग आत्मसात् नहीं हो पाता वह मल है । अन्न का जो भाग आत्मसात् होता है उसमें भी रस और मल दोनों रहते हैं, रसभाग मांस और मलभाग असूक् है । मांस में रस और मल दोनों हैं; मेद मल भाग है, रस भाग अस्थि है । अस्थि का मल भाग मज्जा है । मज्जा का रस भाग शुक्र है । इस प्रकार रस, असूक्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सात अवस्थाओं में अन्न परिणत होता है । ये सातों अवस्थाएं पार्थिव हैं । अभी अन्न ने अपना वाक् रूप छोड़ा नहीं है, किन्तु जब यह शुक्र ओज का रूप धारण करता है, जिसका प्रत्यक्ष हम महापुरुषों के मुखमण्डल पर विराजमान दिव्य कान्ति में कर सकते हैं, तो यह ओज वाक् से प्राण में परिणत हो जाता है । ओज भौतिक नहीं है; उसका स्थान पृथिवी नहीं, अन्तरिक्ष है, इसलिए यह मनुष्य के भौतिक शरीर से बाहर अन्तरिक्ष में रहता है । यही ओज वाक् का प्राण में परिणत हो जाना है । इस ओज को ही ऊर्क् कहा गया है । इस प्राण का रस मन है ।